पहला गिरमिटिया और प्रवासी भारतीयों की समस्याएँ

एम फिल (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध

2001

शोधनिर्देशक
डॉ0 ओम प्रकाश सिंह

शोधकर्ता
राम दर्शन

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110067

Centre of Indian Languages

23
~~21~~ ST July, 2001.

DECLRATION

I declare that the material in this dissertation / thesis entitled "PAHLA GIRMITIYA AUR PRAVASEE BHARTIYON KI SAMASYAYEN, submitted by me is original research work and has not been previously submitted for any other degree of this or any other University / Institution.

RAM DARSHAN
(Name of the Scholar)

DR. OM PRAKASH SINGH
(SUPERVISOR)
CIL / SLL & CS
J.N.U.

PROF. MANAGER PANDEY
(CHAIRPERSON)
CIL / SLL & CS
J.N.U.

भाभी लीलावती और भइया शिवदर्शन को,
सादर
जिन्होंने माता - पिता
के अभावों की पूर्ति की

अपनी बात

काफी समय से हमारे मस्तिष्क में एक प्रश्न गूँज रहा था कि भारत से सुदूर उपनिवेशों मारीशस, फीजी, त्रिनिदाद, सूरीनाम और गुयाना आदि में भारतीयों ने अपनी महत्वपूर्ण स्थिति कैसे कायम की? इतना तो मालूम था कि वर्तमान भारतीयों के पूर्वज मजदूर के रूप में वहाँ गये थे लेकिन यह नहीं मालूम था कि जिन भारतीयों ने उपनिवेशों को अपने खून-पसीने से हरा-भरा किया था, उन्हीं के साथ उपनिवेशी सरकार हैवानियत से पेश आती थी। गिरिराज किशोर का पहला गिरमिटिया उपन्यास पढ़ने के बाद ऐसी स्थिति का पहली बार आभास मिला। यही कारण था कि इस उपन्यास पर काम करने की मेरी इच्छा और दृढ़ हो गयी। प्रकाशित होने के साथ ही साथ ' पहला गिरमिटिया' की साहित्य-जगत में भरपूर चर्चा हुई। इस उपन्यास के पक्ष-विपक्ष, खूबियों-सीमाओं के बारे में काफी कुछ लिखा-पढ़ा और बोला गया। यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि पहला गिरमिटिया पर जो भी चर्चा हुई उसमें ज्यादातर समीक्षकों ने उपन्यास को मोहनदास से महात्मा बनने की प्रक्रिया की गाथा तक ही सीमित कर दिया था। उपन्यास में गिरमिटिया मजदूरों के जीवन के विविध पक्षों पर भी गहराई से प्रकाश डाला गया है, इस तथ्य को नजरअंदाज कर देते थे। वीरेन्द्र कुमार बरनवाल जैसे एकाध समीक्षक ही 'पहला गिरमिटिया' को किसान-जीवन के महाकाव्य की परम्परा में रखते हैं। यह उपन्यास किसान जीवन का महाकाव्य तो नहीं 'मजदूर जीवन का महाकाव्य' तो अवश्य दिखायी पड़ता है।

उपन्यास के शीर्षक 'पहला गिरमिटिया' का 'गिरमिटिया' शब्द एकाएक ही पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। दरअसल 'गिरमिटिया' शब्द अँग्रेजी के एग्रीमेंट का 'क्रिओली' हिन्दी रूप है। यह शब्द भारत से मारीशस, फीजी, दक्षिण अफ्रीका, त्रिनिदाद, सूरीनाम और गुयाना आदि देशों में अनुबंधित मजदूर के रूप में जाने वाले लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। बकौल गाँधी गिरमिटिया उसे कहते हैं, जो पाँच बरस या उससे कम अवधि की मजदूरी के लिए इकरारेनामे पर सही करके हिन्दुस्तान के बाहर मजदूरी करने गया हो। गिरमिटिया का अर्थ- वे गरीब हिन्दुस्तानी, जो इकरारनामा लिखकर पाँच बरस के लिए उस समय ब्रिटिश उपनिवेशों में गये, यही इकरार अथवा एग्रीमेंट शब्द बिगड़कर गिरमिट हुआ, फिर उससे गिरमिटिया।

यह उपन्यास उन्हीं भारतीय मजदूरों के जीवन-संघर्ष की गाथा है। जो पाँच साल के गिरमिट (एग्रीमेंट) पर अपनी रोजी-रोटी कमाने और सुखमय भविष्य की उम्मीद लेकर दक्षिण अफ्रीका गये थे। दक्षिण अफ्रीका की उपनिवेशी सरकार उनके साथ कैसा व्यवहार करती थी, उनकी समस्याएँ क्या थी, अपनी समस्याओं से निजात पाने के लिए वे कैसा संघर्ष कर रहे थे, इस संघर्ष में कौन-कौन से लोग सहायक हो रहे थे, मोहनदास की क्या भूमिका थी, उनके संघर्षशील व्यक्तित्व की निर्मिति कैसे हो रही थी, इन्हीं सब प्रश्नों को लेकर इस उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से मैंने इस लघुशोध-प्रबंध को चार अध्यायों में विभक्त किया है। पहले अध्याय में प्रवासी जीवन की समस्याओं और हिन्दी उपन्यास साहित्य के बारे में विचार किया गया है। इसमें प्रवासी शब्द का अर्थ, आशय, प्रकार और गिरमिट प्रथा के इतिहास पर चर्चा की गयी है। इसके अलावा प्रवासी जीवन की समस्याओं पर भारतीय और भारतीय मूल के प्रवासी उपन्यासों द्वारा लिखे गये उपन्यासों पर संक्षिप्त टिप्पणी की गयी है।

दूसरे अध्याय में 'पहला गिरमिटिया' के कथ्य और स्वरूप पर विचार किया गया है। यहाँ कथ्य के अन्तर्गत उपन्यास का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। और स्वरूप, के अंतर्गत इतिहास और उपन्यास पर चर्चा करते हुए 'पहला गिरमिटिया' को ऐतिहासिक उपन्यास माना गया है।

तीसरे अध्याय के अंतर्गत 'पहला गिरमिटिया' में अभिव्यक्त भारतीय गिरमिटिया मजदूरों की सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं पर गहराई से विचार किया गया है।

चौथे अध्याय में उपन्यास के वैशिष्ट्य का विश्लेषण करने की कोशिश की गई है। इसमें उपन्यासकार की औपन्यासिक-कला और भाषा पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। यहाँ उपन्यास की भाषा, शैली, संवाद और पठनीयता पर तो विचार किया ही गया है, साथ ही साथ उपन्यास के शिल्पपक्ष और कुछ प्रसंगों पर आलोचनात्मक रूप से भी विचार किया गया है। अंत में, उपसंहार के अंतर्गत अध्ययन का निचोड़ प्रस्तुत किया गया है।

'पहला गिरमिटिया' उपन्यास पढ़ने के बाद ही इस पर काम करने की मेरी धारणा बन गई थी। उस दिन मुझे बहुत खुशी हुई जिस दिन आदरणीय डॉ० ओम प्रकाश सिंह ने मुझे 'पहला गिरमिटिया और प्रवासी भारतीयों की समस्याएँ' विषय पर शोध निर्देशन की स्वीकृति प्रदान की। उनसे जितना मैंने पाया, उससे तनिक भी कम स्नेह, सहयोग और सद्भाव की स्थिति में यह काम मुझसे नहीं हो पाता।

लघु शोध-प्रबंध लिखने के क्रम में जे०एन०यू० लाइब्रेरी, साहित्य अकादमी पुस्तकालय, तीनमूर्ति लाइब्रेरी और राष्ट्रीय गाँधी संग्रहालय एवं पुस्तकालय के कर्मचारियों का सद्भाव उल्लेखनीय रहा है। इस कार्य में बीरपाल सिंह यादव-जिन्हें प्यार से दोस्तों के बीच 'मौनी बाबा' कहा जाता है-का सहयोग कमतर नहीं है। विमल, सुनील, पदम, 'तन्वी' सुचिता वर्मा, बालेन्द्र और डी० एन० यादव का सहयोग सराहनीय रहा है। यदि इन सभी मित्रों का सहयोग नहीं मिलता तो इस प्रबंध की गुणवत्ता में अवश्य फर्क आ जाता।

पूनम का आत्मीय स्नेह तथा बाल सखा चन्द्रजीत यादव के प्रोत्साहन ने इस गुरुतर दायित्व को अत्यन्त आसान बनाया है।

रामदर्शन

भारतीय भाषा केन्द्र

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली

जुलाई 2001

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

अपनी बात i-iii

1- प्रथम अध्याय: प्रवासी जीवन की समस्याएँ और

हिन्दी उपन्यास साहित्य 1-19

(अ) प्रवास: अर्थ तथा आशय

(ब) प्रवास के प्रकार

(स) प्रवास के कारण

(द) प्रवासी जीवन और हिन्दी उपन्यास-

(1) प्रवासी कथाकार

(2) भारतीय कथाकार

2- द्वितीय अध्याय: पहला गिरमिटिया:

कथ्य और स्वरूप 20-31

(अ) पहला गिरमिटिया का कथ्य

(ब) पहला गिरमिटिया का स्वरूप

(स) पहला गिरमिटिया-इतिहास और उपन्यास

3- तृतीय अध्याय: पहला गिरमिटिया और प्रवासी

जीवन की समस्याएँ 32-48

(अ) प्रवासी जीवन की सामाजिक समस्याएँ

(ब) प्रवासी जीवन की राजनीतिक समस्याएँ

(स) प्रवासी जीवन की सांस्कृतिक समस्याएँ

4 चतुर्थ अध्याय: पहला गिरमिटिया का वैशिष्ट्य 49-68

(अ) औपन्यासिक कला

(ब) भाषा

उपसंहार 69-73

संदर्भ ग्रन्थ सूची 74-76

प्रथम अध्याय
प्रवासी जीवन की समस्याएँ और हिन्दी उपन्यास

मनुष्य प्रकृत-रूप से स्वच्छन्द जन्म लेता है जैसे-जैसे उसका जीवन जगत से परिचय होता है वैसे-वैसे उसके मानसिक क्षितिज का विस्तार होता हैं। वह जीवन-जगत को गहराई से जानने-समझने की कोशिश करता है मनुष्य की जिज्ञासु-मनोवृति ही उसे आत्मनिष्ठता से वस्तुनिष्ठता की ओर उत्प्रेरित करती है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि के कारण ही वह 'स्व' और 'पर' में अन्तर कर पाता है। इसी दृष्टि के कारण व्यक्ति में सार्वभौम कल्याण और 'वसुधैव-कुटुम्बकम' की चेतना पैदा होती है। दूसरों के दुख को देखकर उसकी अनुभूति करना, उसमें शामिल होना तथा उसको दूर करने के लिए अपने को तैयार करना, एक वस्तुनिष्ठ व्यक्ति के ही वश की ही बात है। मनुष्यता ही कराह को देखकर ही महात्मा बुद्ध भोग-विलासयुक्त जीवन से विरक्त को गये थे। मनुष्यता के प्रचार-प्रसार के लिए ही सम्राट अशोक ने अपने पुत्र और पुत्री को सुदूर विदेशों तक में भेजा था।

प्रवासः अर्थ तथा आशय

'प्रवास' शब्द का शाब्दिक अर्थ "परदेश में रहना, विदेशवास या परदेश जाना"[1] हिन्दी विश्व-कोश के अनुसार 'प्रवास' शब्द का अर्थ "प्र-वस् इति घञ् अपना घर या देश छोड़कर दूसरे देश में रहना ।"[2] इसी प्रकार अँगेजी डिक्शनरी Concise Oxford Dictionary के अनुसार 'Diaspora' शब्द का अर्थ . "The Dispersion (of TheJews) Jews so Dispersed , (Situation of) Any Group of People Similarly Dispersed {(G.K, F. Dia (Speiro Scatter)}" है। प्रवास शब्द अपने आप में बहुधर्मी अर्थ को समेटे हुए है। एक प्रवास वह होता है जब आदमी अपना देश छोड़कर दूसरे देश में रहता है अर्थात् व्यक्ति का एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को गमन। इस प्रवास का उद्देश्य धार्मिक आर्थिक और राजनीतिक कुछ भी हो सकता है। दूसरा प्रवास वह होता है जब व्यक्ति अपनी रोज़ी-रोटी कमाने के लिए प्रवास करता है। इस प्रवास का उद्देश्य सीधे-सीधे आर्थिक होता है।

इन अर्थों के आलोक में देखा जाय तो प्रवासी का मतलब अपने देश से बाहर निवास करने वाला ही ठहरता है - चाहे वह अपने धर्म और संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए गया हो या रोज़ी-रोटी कमाने के लिए।

एक देश से दूसरे देश को जाना ही प्रवास नहीं है। अपने देश में भी व्यक्ति प्रवासी होता है। जब कोई व्यक्ति अपने गृह - प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे रोज़ी-रोटी कमाने के लिए जाता है तो वह भी प्रवासी कहलाता है। इसी तरह एक प्रवास और होता है। जिसके लिए न राष्ट्र छोड़ने की ज़रूरत होती है और न प्रदेश। ऐसा प्रवास अपने घर से, वातावरण से तथा अपनों से मिलता है। इसकी चर्चा आगे करूँगा।

इस लघु शोध-प्रबन्ध में 'प्रवास' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ मे हुआ है। सर्वविदित तथ्य है कि अँग्रेजों के शासन काल में भारतीय आबादी से कुछ लोग अपनी रोज़ी-रोटी कमाने के लिए गिरमिट (Agreement) प्रथा के अन्तर्गत ब्रिटिश उपनिवेशों में गये थे। इनके वहाँ जाने के अनेक कारण थे।

इसके अलावा प्रवास जाने वाले लोगों का एक दूसरा वर्ग भी है। इस वर्ग के लोगों ने देश की आज़ादी के बाद अपने जीवन-स्तर को सुधारने और आर्थिक स्थिति को मज़बूत बनाने के उद्देश्य से विदेश-गमन किया था। इस वर्ग में अधिकतर डॉक्टर, इंजीनियर और प्रबंधक थे।

हमारा मूल संबंध 'गिरमिट प्रथा' के अन्तर्गत रोज़ी-रोटी के उद्देश्य से गए प्रवासियों से है। लेकिन गिरमिटियो की समस्याओं की सही पहचान के लिए इस दूसरे वर्ग के प्रवासियों की समस्याओं के स्वरूप को पहचानना भी आवश्यक होगा। स्वाधीनता पूर्व जो भारतीय विदेश गये उनमें ज़्यादातर गिरमिटिया ही थे। हालाँकि इनमें व्यापारी वर्ग के भी कुछ लोग थे लेकिन जिन समस्याओं का सामना गिरमिटिया कर रहे थे उन समस्याओं का सामना व्यापारियों को नही करना पड़ता था। इसी प्रकार स्वतंत्रता के बाद जो भारतीय विदेश गए उन्हें भी कम

समस्यायें नहीं झेलनी पड़ी। रंगभेद, वर्गभेद, नस्लभेद आदि ऐसी अनेक समस्यायें हैं जिनसे आज भी प्रवासी भारतीय टकरा रहे हैं।

प्रवास के प्रकार

प्रवास शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए प्रवास के कुछ प्रकारों का उल्लेख हुआ है। दरअसल भारतीय भाषाओं में प्रवास शब्द का प्रयोग बहुत पहले से और अनेक रूपों में होने लगा था। यदि भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रवासियों के इतिहास पर विचार किया जाय तो हमें इसके संकेत सुदूर अतीत से ही मिलने लगते हैं। मनुस्मृति का श्लोक है-

"एकद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः
स्वं स्वं चरितं शिक्षरेण पृथिव्यां सर्वमानवाः"

इस श्लोक में बताया गया है कि भारत वर्ष से ही संपूर्ण विश्व के मानवों में ज्ञान का दीपक आलोकित हुआ। जहाँ जहाँ भारतीयों ने प्रवास किया वहाँ उन्होंने अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया। सम्राट अशोक ने भी अपने पुत्र-पुत्री को बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए लंका, जावा और कम्बोडिया आदि स्थानों पर भेजा था। इस प्रकार का प्रवास रोजी-रोटी कमाने के लिए नहीं बल्कि जीवन की शान्ति और ज्ञान तथा धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए था। बनारसी दास चतुर्वेदी का मानना है कि भारतीयों ने सर्वप्रथम नील नदी के तटवर्ती देशों में प्रवास किया था, "उस समय जब भारतीयों का इतिहास उपलब्ध नहीं था, भारतीय स्वेज के मुहाने को पार कर विदेशों में गये। नील नदी के तटवर्ती देशों में भरतीयों ने प्रवास किया।"[5] चतुर्वेदी के इस कथन से पूर्णरूप से सहमत तो नही हुआ जा सकता क्योंकि यह कथन फिर से उसी विवाद को उठाता है कि आर्य बाहर से आये या यहाँ से बाहर गये। इसलिए प्रवास से संबंधित ऐसे विवादों को न उठाकर केवल यह मान लिया जाय कि भारतीय मूल के लोग प्राचीन काल से ही सुदूर विदेशों तक की न केवल यात्राएँ करते थे बल्कि उनमें से कुछ लोग वहाँ बस भी जाते थे। इनके प्रवास का उद्देश्य ज्ञानार्जन, धर्म का प्रचार-प्रसार या व्यापार था, साथ ही साथ इनके प्रवास की अवधि भी निश्चित नहीं थी।

भारतीय प्रवासियों की मूल समस्या तो वहाँ से शुरू होती है जब वे अपनी अभाव ग्रस्त जिंदगी से छुटकारा पाने के लिए वतन छोड़कर विदेशी मुल्कों में गए। निश्चय ही यह प्रवासियों का ऐसा प्रकार है जो पहले वर्ग के प्रवासियों से नितांत भिन्न है। अपने अभावों से मुक्ति पाने के लिए विदेश गए भारतीयों के भी दो वर्ग हैं। पहले वर्ग में वे लोग आते हैं जो छोटे-मोटे व्यापार या काम धन्धों के उददेश्य से विदेश गये थे। दूसरे वर्ग के प्रवासियों मे उन लोगों की गणना की जायेगी जो अपनी अभावपूर्ण जिंदगी से तंग आकर दो जून की रोटी और एक सुनहरे भविष्य की तलाश में साम्राज्यवादी षडयंत्र के तहत विदेश गाये। इन भारतीय मजदूरों को साम्राज्यवादी अँग्रेज एक निश्चित शर्त, (Agreement) के अंतर्गत 5 साल के लिए विदेश ले गए थे। इसीलिए इन्हें 'गिरमिटिया' कहा जाता है। उन मजदूर भारतीयों को क्या पता था कि उनकी सुविधा के लिए जो अनुबंध (Agrement) हुआ है, वही आगे चलकर उनके लिए भयानक सजा का रूप ले लेगा ।

भवानी दयाल संन्यासी द्वारा लिखित पुस्तक 'प्रवासी की आत्मकथा' में 'प्रवास' शब्द इन्ही भारतीय गिरमिटिया मजदूरों के लिए प्रयुक्त हुआ है। संन्यासी के अनुसार -'प्रवासी की आत्मकथा' प्रवासी भारतीयों की दुर्गति की गाथा है। प्रवासियों की कथा इतनी करूणा-पूर्ण है कि कहने में वाणी थर्राती है लिखने में लेखनी काँपती है। समुद्र की लहरों को चीरकर उनकी आहें जब यहाँ पहुँचती हैं और मेरे कानों पड़ती हैं तो हदय व्यथा से भर

आता है - सिर धुनकर रह जाता हूँ। व्यथित हृदय को जरा-सा धक्का भी असह्य होता है, पर यहाँ तो चोट-पर चोट लग रही हैं। यदि हृदय चीरा जा सकता तो उसे चीर कर दिखा देता कि वह व्यथा का भंडार बन गया है इस आत्मकथा में उसी व्यथा की अभिव्यक्ति है।"[6] यह कथा दक्षिण अफ्रीका गये गिरमिटिया मजदूरों की है जिसको संन्यासी ने लिपिबद्ध करने की कोशिश की है।

हरिवंशराय बच्चन ने अपनी अत्मकथा चार भागों मे लिखी है

1. क्या भूलूँ क्या याद करूँ 2. नीड का निर्माण फिर 3. बसेरे से दूर 4.प्रवासी की डायरी

बच्चन शिक्षा ग्रहण करने के लिए विदेश गये थे एक शिक्षार्थी के रूप में वे जितने समय विदेश में रहे वहाँ उन्होने जो कुछ देखा सुना, समझा और भोगा उसका विस्तृत विवरण उन्होंने 'प्रवासी की डायरी' में दिया है। जाहिर है कि बच्चन ने 'प्रवास' शब्द उन भरतीयों के लिए प्रयुक्त किया है जो विदेश जाकर शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा तरह-तरह की परिस्थितियों से गुजरते हैं। उन्ही के शब्दों में, "मैं इस खण्ड में मुख्यतया अपने जीवन की उस अवधि की कहानी सुनाने जा रहा हूँ जिसमें मैं अपने देश-नगर, घर-परिवार से दूर जाकर इंग्लैण्ड-कैम्ब्रिज में रहा....बहुत-सा गद्य लिखा, जो 'प्रवासी की डायरी' के रूप मे प्रकाशित हो चुका है।... इस छोटी-सी अवधि में जितना मैंने लिखा-पढ़ा, देखा-सुना, जाना-पहचाना, भोगा-सहा, अनुभव-अवगत किया, उतना मैंने इतने ही काल- माप में अपने जीवन में कभी नहीं किया, इसी से मुझे लगा कि यदि मैं इस अवधि की झाँकी प्रस्तुत कराना चाहूँ तो इसके लिए अपनी आत्मकथा को एक स्वतन्त्र खण्ड देना पड़ेगा... आपने 'प्रवास की डायरी' भी पढ़ ली हो न पढ़ी हो तो उसे आप 'बसेरे से दूर' की भूमिका के रूप में पढ़ सकते हैं।"[7] बच्चन जी अपनी आत्मकथा के द्वारा केवल अपने जीवन की ही नहीं बल्कि विदेशों में रह रहे छात्रों के जीवन-संघर्ष की गाथा को भी प्रस्तुत किया है।

इसी तरह 'प्रवास' का एक और प्रकार है, इसमें वे लोग आते हैं जो अपने ही देश में, एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में कुछ समय के लिए मजदूरी करने जाते हैं। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार -"अपने काम वाले इलाके के निवासी हुए बिना अस्थायी रोजगार या उसकी तलाश में व्यवस्थित रूप से जाने वाले मजदूर ही 'प्रवासी मजदूर' कहलाते है"[8] इस तरह के मजदूरों में उन मजदूरों को रख सकते हैं जो हर वर्ष गेहूँ की फसल के समय पंजाब या अन्य प्रदेशों को गमन करते हैं और निश्चित समय के अन्तर्गत अपने घर वापस आ जाते हैं। ये मजदूर घर से दो-तीन महीना दूर रहकर किसी प्रदेश में जाकर गेहूँ की कटाई या धान की रोपाई करते हैं, जब काम समाप्त हो जाता है तो वे अपने घर वापस आ जाते हैं। यह परिभाषा अस्थायी मजदूरों को जो कुछ समय के लिए घर से बाहर रहते हैं उन्हीं को परिभाषित करती है। एस.सी. हनुमंत राव ने प्रवासी मजदूरों के अन्तर्गत सफेद पोश नौकरी और व्यवसायियों को भी रखा है- "प्रवासी मजदूरों के तहत सफेद पोश नौकरी कमाऊ व्यवसाय और व्यापार करने वाले सभी लोग आते हैं जो वर्षो से एक जगह जाकर काम करते हैं। और वहीं बस से गये हैं पर इसमें वे मजदूर भी शामिल हैं जो साल के कुछ महीनों में अपना श्रम बेचने के लिए निकलते हैं और कमाकर वापस अपने घर लौट आते हैं।"[9] राव ने अपनी परिभाषा के अंतर्गत अस्थायी मजदूरों के साथ-साथ उन कर्मचारियों को भी प्रवासी मजदूर के अन्तर्गत समेत लिया है जो अपने मूल स्थान से किसी दूसरे स्थान पर जाकर अपनी सेवाएँ देते हैं तथा बदले में श्रम मूल्य प्राप्त करते हैं।

नरेन्द्र शर्मा की रचना 'प्रवासी के गीत' की हिन्दी सहित्य में प्रर्याप्त चर्चा हो चुकी है। नरेन्द्र शर्मा ने यहाँ 'प्रवासी' शब्द को बिलकुल नये अर्थ में प्रयुक्त किया है। उन्होंने प्रवासी शब्द का इस्तेमाल उन लोगों के लिए किया है जो अपने घर-परिवार एवं परिवेश से अजनबीयत महसूस करते हैं। अर्थात् वर्तमान परिवेश से विद्रोह की स्थिति अपनाते हैं। नरेन्द्र शर्मा खुद को सामाजिक अवमूल्यन स्पार्थपरकता के समाज में प्रवासी महसूस किया है। 'प्रवासी

के गीत' की भूमिका में उन्होंने लिखा है - ''हम देखते हैं कि उत्तरार्ध का निराशावाद बराबर अधिक भीषण होता जाता है। इसका प्रधान कारण यही था कि बाहर भीतर के असंतोष के कारण कवि की प्रवृत्तियाँ उसके भीतर केन्द्रीभूत होती गईं। आहत अहंकार ने उग्र रूप धारण कर लिया और कवि निराश से चीत्कार उठा।''[10] कवि का निराशा से चीखने का कारण समाज के शोषक वर्ग है। उच्च वर्ग- डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, व्यापारी, राजा और नवाब, बड़े जमींदार और ताल्लुकेदार- ब्रिटिश सत्ता के पोषक थे और मध्यवर्ग जिसमें बेकार शिक्षितों और कवियों एवं लेखकों की गणना होती थी, सांसारिक सुख-भोग में मस्त था और सर्वहारा वर्ग को गरीबी और गुलामी के भार से साँस लेने की फुरसत नहीं थी। ऐसे समय में एक सजग कवि को निराशा का दंश झेलना स्वाभाविक है। इसी निराशा से ऊबकर कवि ने अपने को 'प्रवासी' कहा है।

लेकिन यहाँ मेरा उद्देश्य इस शब्द के बहुधर्मी अर्थ को ग्रहण करना नहीं है। मैंने 'प्रवास' शब्द को एक निश्चित अर्थ मे ग्रहण किया है जिसके अन्तर्गत उन भारतीयों को परिगणित किया गया है, जो स्वतन्त्रता पूर्व और स्वतन्त्रता के बाद अपना देश छोड़कर दूसरे देशों को रोजी-रोटी कमाने और खुशहाल जिंदगी जीने की लालसा में गये। उन्हीं के जीवन-संघर्षों की उधेड़बुन करना हमारा उद्देश्य है।

प्रवास के कारण

प्रवास के जितने रूप हैं। प्रवास-गमन के उससे भी अधिक कारण हैं। प्रवास को सभी रूपों के कारणों पर चर्चा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। प्रवास को मैंने एक निश्चित अर्थ में ग्रहण किया है, इसलिए प्रवास के कारणों की चर्चा भी उसी संदर्भ में की जायेगी। किसी कार्य के पीछे कोई न कोई कारण जरूर रहता है। गिरमिटिया मजदूरों के प्रवास-गमन के पीछे ब्रिटिश सत्ता की महत्वपूर्ण भूमिका है। भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद अँग्रेजों ने सत्ता संचालन हेतु एक प्रशासन प्रणाली की स्थापना की। किसी देश की प्रशासन प्रणाली का प्रमुख कार्य शासकों के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की पूर्ति करना होता है। अँग्रेजों का मुख्य उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण कर अधिकतम लाभ कमाना था। इसके लिए सन् 1793 में गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल सरकार के लिए दो प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किये- 'राजनीतिक सुरक्षा सुनिश्चित करना' तथा 'भारत पर अधिकार को ईस्ट इण्डिया कंपनी तथा ब्रिटिश राष्ट्र के लिए यथा संभव लाभदायी बनाना।'

सन् 1600 - 1757 तक ईस्ट इण्डिया कंपनी की हैसियत एक व्यापारिक निगम की थी। वह भारत से कपड़े एवं मसाले ले जाकर विदेशों में बेचती थी। भरतीय कपड़ों की लोकप्रियता से ब्रिटिश उद्योग पतियों में खलबली मच गयी। उन्होंने भारतीय मालों के विक्रय को कम कराने या समाप्त कराने के लिए ब्रिटिश सरकार पर दबाव डाला। हालैंड को छोड़कर दूसरे यूरोपीय देशों ने भारतीय वस्त्रों के आयात पर या तो प्रतिबन्ध लगा दिया या भारी आयात शुल्क। लेकिन इन कानूनों के बावजूद भी भारत के रेशमी एवं सूती वस्त्र 18वीं सदी के मध्य तक विदेशी बाजारों में जमे रहे।

पलासी का युद्ध (सन् 1757) भारतीय बुनकरों के लिए महामारी साबित हुआ। कंपनी के अधिकारी उनको कम दाम पर माल बेचने के लिए बाध्य करते, भारतीय कारखानों में काम करने पर रोक लगा देते तथा कंपनी के लिए कम मजदूरी पर काम करने के लिए मजबूर करते। कपास के उत्पादन में एकाधिकार कर लिया। कच्चे कपास की बिक्री पर बुनकरों से मनमाने दाम वसूलने लगे। इस तरह बुनकर दोनों तरफ घाटे में ही रहे। ब्रिटिश सरकार अपने मशीनी उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए भारतीय वस्त्रों पर भारी आयात-शुल्क लगा दिया। भारतीय हस्त शिल्पियों को असल धक्का सन् 1913 के बाद लगा, जब उनके हाथों से भारतीय एवं विदेशी बाजार दोनों छिन गये।

ब्रिटेन में औद्योगीकरण के विकास से भारतीय दस्तकारों के निर्यात पर प्रतिबन्ध तो लगा ही उल्टे सन् 1769 में ब्रिटिश उद्योग पतियों ने एक कानून बनवाकर कंपनी को बाध्य किया कि वह प्रविवर्ष 380000 पौण्ड से अधिक मूल्य के ब्रिटिश कारखानों के माल का निर्यात करे। फिर तो ब्रिटिश सूती वस्त्रों की भारतीय बाजार में भरमार हो गयी। एक आँकड़े के अनुसार- "भारत को सन् 1794 में 156 पौण्ड के ब्रिटिश सूती कपड़ों का निर्यात हुआ मगर सन् 1813 तक यह निर्यात बढ़कर 1100000 पौण्ड का अर्थात 700 गुना हो गया।"[11] अब भारतीय दस्तकारों को ब्रिटेन की मशीनों से बने माल के साथ भयानक और असमान प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा तथा वे नष्ट होने लगे। इससे दस्तकारों की हालत दिनों-दिन खस्ता होती चली गयी।

भारतीय मालों पर भारी आयात-शुल्क लगाया जाता था और ब्रिटिश उद्योगपति अपने मालों को भारत में बिना आयात-शुल्क अदा किये लाते थे। किसी-किसी भारतीय वस्तु पर तो ब्रिटेन में भारी आयात-शुल्क लगा दिया गया था। जैसे सूती कपड़ों पर 675 प्रतिशत, मलमल के कपड़ों पर 335 प्रतिशत। यहाँ तक कि कुछ वस्तुओं पर 400 प्रतिशत तक आयात शुल्क लगता था। इसी दोगली नीति के चलते भारत का निर्यात व्यापार तेजी से गिर गया और दस्तकारों एवं भारतीय व्यापारियों को अपने उद्योग बन्द करने पड़े। भारतीयों को कच्चा कपास, कच्चा रेशम जैसे कच्चे मालों का उत्पादन करने या नील और चाय का उत्पादन करने के लिए मजबूर किया गया।

ब्रिटिश उद्योगों के लिए भारत से कच्चा माल प्राप्त करने, उत्पादित माल की भारत में खपत करने तथा यातायात की सुविधा के उद्देश से अंग्रेजों ने भारत में रेललाइनों के बिछाने की योजना प्रारम्भ की। रेल लाइनें मुख्यतः भारत के अन्दरूनी भागों में स्थित कच्चे माल पैदा करने वाले क्षेत्रों को निर्यात करने वाले बन्दरगाहों से जोड़ने के लिए बिछाई गई थीं। रेल लाइनों के बिछाने में 350 करोड़ रूपये की पूँजी लगी थी। इस पूँजी को प्राप्त करने, कच्चे माल खरीदने, भारत में ब्रिटिश सत्ता को मजबूत करने, ऊँचे प्रशासकीय एवं सैनिक पदों पर नियुक्त कर्मचारियों को वेतन देने, भारतीय ग्रामों एवं दूर-दराज के क्षेत्रों में उपनिवेशवाद की पूरी-पूरी घुस-पैठ के लिए कंपनी को राजस्व की आवश्यकता थी। यह राजस्व किसानों पर भारी कर लगाकर ही प्राप्त किया जा सकता था। कंपनी या तो कर्मचारियों की सहायता से सीधे-सीधे राजस्व वसूल करती थी या अप्रत्यक्ष रूप से अपने बिचौलिये जैसे जमींदार या मालगुजारों आदि के द्वारा। ये बिचौलिये मालगुजारी का एक भाग कमीशन के रूप में अपने पास रख लेते थे। इसीलिए मालगुजारी की एक निश्चित रकम निर्धारित करने के लिए कार्नवालिस ने सन् 1793 में बंगाल और बिहार में 'इस्तमरारी बन्दोबस्त' की व्यवस्था की। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जमींदारों एवं मालगुजारों को केवल मालगुजारी की वसूली के लिए सरकार के एजेंट का ही काम नहीं करना था बल्कि अब वे अपनी जमींदारी के इलाके की सारी जमीन के मालिक बन गए तथा उनके स्वामित्व को वंशगत एवं हस्तांतरणीय बना दिया गया। दूसरी तरफ काश्तकारों का दर्जा गिर गया और वे अब बटाईदार होकर रह गये।

मालगुजारी की रकमों का निर्धारण मनमाने ढंग से किया गया। यदि फसल नष्ट भी हो गयी तब भी निर्धारित मालगुजारी देनी ही पड़ती थी। जमींदार को प्राप्त आय का 10/11 भाग कर के रूप में देना पड़ता था। इसी प्रकार मध्य भारत के कुछ भागों एवं अवध में अँग्रेजों ने अस्थायी जमींदारी की एक प्रथा लागू की। इसमें जमींदार को जमीन का मालिक तो बना दिया गया था लेकिन उन्हें समय-समय पर पुनर्निधारित मालगुजारी देनी पड़ती थी। इसी तरह अँग्रेजी सरकार की वफादारी से सेवा करने वाले व्यक्तियों को भी जमीनें दी जाती थी जिससे भारत में एक नये प्रकार के जमींदार पैदा हुए। काश्तकार जमींदारों की दया पर छोड़ दिये गये थे, जो काश्तकारों पर मनमाना जुल्म ढ़ाते थे। कंपनी को जमींदारों को हिस्सा देना पड़ता था और जमीन से होने वाली आमदनी के बढ़ने पर कंपनी उसमें से हिस्सा नहीं माँग सकती थी। इन्हीं कारणों के चलते दक्षिण एवं दक्षिण-पश्चिम भारत में कंपनी अधिकारियों ने सन् 1820 में माल गुजारी की एक नयी प्रथा लागू की। जिसे 'रैयतवारी प्रथा' के नाम से

जाना जाता था। इसमें काश्तकार जिस जमीन को जोतता-बोता था उसका मालिक मान लिया जाता था। यह प्रथा कोई स्थायी बन्दोबस्त नहीं थी। प्रत्येक बीस-बीस वर्ष पर इसका पुनर्निर्धारण किया जाता था और मालगुजारी बढ़ा दी जाती थी। उत्पादन का 45 प्रतिशत से 55 प्रतिशत भाग मालगुजारी के रूप में दे देना पड़ता था। सूखा-बाढ़ के समय भी मालगुजारी देनी पड़ती थी।

इसी तरह अँग्रेजों ने पश्चिमोत्तर प्रांत, मध्य भारत के कुछ भागों और पंजाब में जमींदारी का एक संशोधित रूप लागू किया। जिसे 'महलवारी प्रथा' कहा जाता था। इस इस प्रथा के अन्तर्गत मालगुजारी की बंदोबस्त अलग-अलग गाँवों (महलों) के आधार पर उन जमींदारों या उन परिवारों के मुखिया के साथ किया जाता था, जो सामूहिक रूप से उस गाँव का भू-स्वामी होने का दावा करते थे। इसमें भी समय- समय पर मालगुजारी का पुनर्निर्धारण किया जाता था।

इन प्रथाओं से गाँव का ढाँचा धीरे-धीरे चरमरा गया। जो किसान मालगुजारी नहीं दे पाता था उसकी जमीन नीलाम कर दी जाती थी। जमीन नीलाम हो जाने पर किसान मजदूर बनने के लिए बाध्य हो जाता। मजदूर के रूप में कार्य करते हुए उसे न तो पूरी मजदूरी मिलती और न ही मालिकों की सहानुभूति। ऊपर से बेगारी अलग से करनी पड़ती। मजदूरी माँगने पर मार पड़ती। इन्हीं सब कारणों से किसान और मजदूर प्रवास-गमन करने के लिए मजबूर हुए। किसान एवं सरकार के बीच में महाजन वर्ग का उदय हुआ जो किसानों को ऊँचे सूद पर पैसा देता था। लगान वसूली की सख्ती के कारण किसानों को मजबूर होकर महाजन से कर्ज लेना पड़ता था। कर्ज न दे पाने के करण जमीन महाजनों व्यापारियों और धनी किसानों के हाथों चली जाती थी जिससे किसानों की हालत दिनों-दिन बदतर हुई। ऐसे लोगों के पास किसानी के अलावा जीविकोपार्जन का कोई दूसरा साधन न था। मजबूरन वे नये कामों की तलाश करने लगे। उपनिवेशवादियों ने इस अवसर का भरपूर लाभ उठाया और उन्हें अनेकानेक प्रलोभन देकर अपने अन्य उपनिवेशों में काम करने के लिए प्रेरित किया। ध्यान रहे इसी समय ब्रिटिश संसद में गुलामी प्रथा समाप्त करने का प्रस्ताव पास किया गया था यह कदम सराहनीय था लेकिन उन लोगों ने गुलामी से मिलती जुलती एक दूसरी प्रथा शुरू की, जो गिरमिट प्रथा के नाम से जानी जाती है। गिरमिट शब्द अँग्रेज़ी के 'एग्रीमेंट' का भारतीय देशज शब्द है।

अँग्रेजों ने अपने उपनिवेशों से गुलामी प्रथा को समाप्त कर एक बहुत बड़ा मानवतावादी काम किया लेकिन इसी गुलामी प्रथा ने यूरोप में औद्योगीकरण के विकास में अहम भूमिका निभाई थी। 15वीं सदी में जब युरोपीय देशों ने अफ्रीका में प्रवेश किया तो औद्योगीकरण के लिए उन्हें पूँजी का प्रारम्भिक स्रोत मिला। वे अफ्रीका के साथ गुलामों का व्यापार करते थे। 16 वीं सदी तक इस व्यापार पर स्पेन एवं पुर्तगाल का एकाधिकार रहा, लेकिन जल्द ही इस अधिकार को डच, फ्राँसीसी और अँग्रेजों ने हथिया लिया। सन् 1650 के बाद अनेक वर्षों तक हजारों अफ्रीकियों को गुलाम बनाकर वेस्ट इंडीज और उत्तरी एंव दक्षिणी अमेरिका में बेचा जाता था। सन् 1453 में कुस्तुनतुनिया पर जब तुर्कों ने अधिकार कर लिया तो यूरोप का एशिया से व्यापारिक मार्ग अवरूद्ध हो गया। व्यापारिक मार्ग की तलाश में स्पेन का एक साहसिक नाविक कोलम्बस ने सन् 1494 में अमरीका की खोज की। इसके बाद अनेक भौगोलिक खोजों ने यूरोप का व्यापारिक मार्ग प्रशस्त किया। अब यूरोपीय व्यापारी अपने कारखानों का माल लेकर अफ्रीका पहुँचते। वहाँ माल की अदला-बदली करते और वहीं से अफ्रीकी दासों को लेकर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका पहुँचते, वहाँ औपनिवेशिक बागानों एवं खानों के माल से अदला-बदली करते और उस माल को यूरोप में बेचते थे। इस तिकोने व्यापार से यूरोपीय व्यापारियों को बेपनाह मुनाफा हुआ। यही पूँजीवाद में औद्योगीकरण के लिए राम-बाण साबित हुई-

"पश्चिमी यूरोप एवं उत्तरी अमरीका की समृद्धि अधिकांशतः गुलामों के इसी व्यापार पर और गुलामों की मेहनत से चलने वाले बागानों पर निर्भर थी। इसके अलावा दास-व्यापार एवं दासों की मेहनत से चल रहे बागानों के मुनाफे से ही वह पूँजी बनी जो 18 वीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति में काम आयी।"[12]

इस तरह गुलामी प्रथा ने यूरोपीय देशों को पूँजी के मामले में काफी मजबूत कर दिया था। लेकिन धीरे-धीरे इस प्रथा को समाप्त करने के लिए ब्रिटिश संसद पर दबाव पड़ने लगा। अन्ततः सन् 1833 में 'स्लेवरी एबालिशन एक्ट' बनाकर ब्रिटिश उपनिवेशों से गुलामी प्रथा को समाप्त करने की घोषणा कर दी गयी। हालांकि सरकार को इसके बदले में दास मालिकों को मुआवजा भी देना पड़ा- "1833 ई० में लोक सभा ने गुलामी का अंत करने का कानून (स्लेवरी एबालिशन एक्ट) पास किया। इस समाचार के मारीशस पहुँचने के बाद 66000 गुलामों को आजाद कर दिया गया फिर भी वे अपने मालिकों के शिकंजों से पूरी तरह मुक्त न हो सके। उन्हें सहायक के रूप में सन् 1839 तक उनका काम करना पड़ा इसके बाद उनको पूरी स्वतन्त्रता मिली। वेस्टइंडीज एवं दूसरे उपनिवेशों में अँग्रेज सरकार को इसके बदले दास मालिकों को बीस लाख पौण्ड मुआवजा देना पड़ा। मारीशस में बागान मालिकों को दो लाख पौण्ड मिले।"[13] गुलामी प्रथा समाप्त होने के बाद कोई भी गुलाम अपने मालिकों के यहाँ काम नही करना चाहता था जिससे गन्ना उत्पादन पर बुरा असर पड़ने लगा। चीनी उद्योग के चौपट हो जाने के भय से बागान मालिक भारत से मजदूर आयात करने के लिए मारीशस सरकार पर लगातार दबाव डालने लगे। स्थिति की नज़ाकत को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने सन् 1838 में बागान मालिकों को कुछ शर्तों के अनुसार भारत से मजदूर आयात करने की अनुमति दे दी। भारत के बंदरगाह पर एक मजिस्ट्रेट के सामने मजदूरों के लिए पाँच साल का एक अनुबंध तैयार किया जाता था। इसमें मजदूरों को मूल-भूत सुविधाएँ मुहैया कराने का प्रावधान था। अनुबन्ध में साफतौर से उल्लेख रहता था कि मियाद समाप्त होने पर इन मजदूरों को मालिक के खर्च से भारत भेज दिया जायेगा। इस अनुबंध में अनेक आकर्षक प्रलोभन थे। इन प्रलोभनों के संदर्भ मे निम्नलिखित बातें द्रष्टव्य हैं।

1. "पाँच वर्ष तक मजदूर शर्त बन्दी की अवधि में कार्य करेंगे।
2. आने-जाने का किराया मालिक देंगे।
3. पुरूष को पाँच रूपये मासिक वेतन तथा स्त्रियों को वेतन के रूप में चार रूपये प्रतिमाह दिया जायेगा।
4. निम्नलिखित राशन मिलेगा-
    क. प्रति व्यक्ति एक सेर चावल
    ख. प्रति महिला तीन पाव चावल
    ग. एक पाव दाल
    घ. आधी छटाँक नमक
    च. आधी छटाँक तेल
    छ. आधी छटाँक सरसों
5. पाँच वर्ष में निम्न वस्तुएँ एक बार मिला करेंगी -
    (क). एक धोती (ख). एक कमीज (ग). दो कम्बल (घ). एक फितूई (च). दो टोपी
6. नौकरी की न्युक्ति के समय छः माह का वेतन अग्रिम दिया जायेगा।

शेष प्रतिमाह मिलेगा।"[14]

भारत में इस समय (सन् 1834) तक अँग्रेजों ने किसानों पर तरह-तरह की लगान प्रथाओं को लागू कर उनकी स्थिति जर्जर कर दी थी। लगान अधिक होने के कारण उसका भुगतान कर पाना उनके लिए बहुत मुश्किल था। यदि वे समय पर लगान नहीं दे पाते थे तो उनको जमीन से बेदखल कर दिया जाता था। इस स्थिति में उन्हें जीने के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ता था। ऐसी स्थिति से मुक्ति पाने के लिए अनुबंध की ये सुविधाएँ अँधेरे में दीपक जैसी लगीं। उन्हें सुनहरे भविष्य का स्वप्न दिखाई देने लगा। वे इस सपने को साकार करने के लिए जाने अनजाने अंजान क्षितिज की ओर चल पड़े। भारत के ये मजदूर ब्रिटिश सरकार के विभिन्न उपनिवेशों में गये। जहाँ इन्होंने अपनी मेहनत से ब्रिटिश उपनिवेशों को हरा-भरा बनाया।

भारतीय मजदूर सबसे पहले सन् 1834 ई० में मारीशस को गये। उसके बाद अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों त्रिनिदाद-1845 ई०, दक्षिण अफ्रीका 1860 ई०, गुयाना 1870 ई०, सूरीनाम 1873 ई० और फीजी 1879 ई० में गये।[15] ये मजदूर अपनी जिंदगी को खुशहाल बनाने के लिए सन् 1834 से सन् 1923 तक ब्रिटिश उपनिवेशों को जाते रहे हालांकि ये अपनी जिंदगी तो नहीं सुधार पाये बल्कि अँग्रेज बागान मालिकों को माला-माल कर दिया। इनके प्रति उपनिवेशवादियों की दृष्टि कैसी थी उसका एक उदाहरण दृष्टव्य है- "उन्हें हाजिरी देने के लिए सवेरे चार बचे जाग जाना पड़ता था। उपस्थिति देकर वे अपने घर आहार लेने जाते, वे साढ़े पाँच बजे काम शुरू करते थे...जरा भी देर हो जाने से कड़ी सजा मिलती थी। जरा-सी असावधानी के कारण उन्हें सारा दिन पिटना और गालियाँ सुनना पडता था।...दोपहर में तीन बजे तक काम करना पड़ता था। लेकिन जो लोग निर्धारित कार्य समय से नहीं समाप्त कर पाते थे, उन्हें सूर्यास्त तक कुदाली चलाते देखा जा सकता था।"[16] इस तरह का व्यवहार प्रत्येक उपनिवेश के मजदूरों के साथ किया जाता था।

अब उन प्रवासी भारतीयों के 'प्रवास' के कारणों की चर्चा करूँगा जो स्वातंत्र्योत्तर काल में प्रवास-गमन किये। इनमें विशेष तौर से भारतीय उच्च मध्य वर्ग एवं उच्च वर्ग के लोग शामिल हैं। ये लोग गिरमिटियों की तरह जीवन संघर्षों से नहीं जूझ रहे थे। ये उच्च मध्य वर्ग से संबंधित लोग थे जो उपभोक्तावादी एवं विलासपूर्ण जिंदगी जीने के लिए 'प्रवास' गमन किये थे। इन प्रवासियों में डॉक्टर, इंजीनियर, तकनीशियन एवं प्रबंधक शामिल थे। जो एक बार विदेश चले जाने के बाद स्वदेश बहुत कम लौटते थे- "आखिर कार हमारे ये मेधावी युवक विदेशों मे बसना पसंद क्यों करते हैं ? इसके लिए बस एक ही जवाब मिलता है विदेशों में जाकर ये लोग काफी धन कमा लेते हैं। भारतीय तकनीकी संस्थान का एक स्नातक स्वदेश में औसतन 60000/ प्रति वर्ष कमा पाता है, जबकि विदेश में यह औसतन 52000 डालर (करीब साढ़े तीन लाख रूपये) कमा लेता है।"[17] इस कथन से मालूम होता है कि जैसे-जैसे औद्योगीकरण का विकास शुरू हुआ वैसे वैसे जीवन में 'अर्थ' की महत्वपूर्ण भूमिका होती गई। जीवन में 'अर्थ' की केन्द्रीयता मनुष्य को उपभोक्तावादी एवं घोर स्वार्थी बनाती है। उसके लिए पैसा सभी संबंधों से ऊपर होता है, सामाजिक एवं नैतिक मूल्य का कोई महत्व नहीं होता। राष्ट्र प्रेम उसके लिए थोथा मूल्य होता है। पूँजीवादी चेतना के कारण वह इतना आत्मकेन्द्रित हो जाता है कि पैसा के लिए किसी भी देश को जा सकता है "नव-जागरण काल में साम्राज्यवाद का अन्त और आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों की परम्परा का उदय सामन्तशाही का ह्रास और पूँजीवाद तथा उसके परिणाम स्वरूप एक नये अवकाशभोगी वर्ग का उदय एवं भाषाओं का विकास देखने को मिलता है। उस समय विज्ञान के प्रथम चरण के भी दर्शन हुए।"[18] यही सुविधाभोगी वर्ग स्वतंत्रयोत्तर प्रवास-गमन किया, हालांकि कुछ मजदूर एवं कर्मचारी भी खाड़ी देशों को गये लेकिन उनकी नोटिस बहुत कम ली गयी है। स्वतंत्र्योत्तर प्रवास-गमन में 'अर्थ' एक महत्वपूर्ण कारण रहा है।

प्रवासी जीवन और हिन्दी उपन्यास

प्रवासी जीवन पर कलम चलाने वाले उपन्यासकारों को हम दो श्रेणियों में रख सकते हैं। पहली श्रेणी में वे उपन्यासकार हैं जिनके माँ-बाप गिरमिटिया के रूप में विदेश चले गये थे। इन उपन्यासकारों ने गिरमिटियों के जीवन-संघर्षों को संपूर्णता में प्रस्तुत करने की कोशिश की है। दूसरी श्रेणी में वे लोग हैं जिन्होंने स्वतंत्र्योत्तर प्रवासी भारतीयों को अपने लेखन के केन्द्र में रखा है। इन प्रवासियों में वे भारतीय शामिल हैं। जिनका रहन-सहन और जीवन-शैली तो विदेशी है लेकिन मानसिक चेतना भारतीय है। इन्हें भारतीयता की याद तब आती है जब इनके साथ द्वितीय नागरिक जैसा व्यवहार किया जाता है। इन लेखकों के केन्द्र में वे भारतीय मजदूर नहीं हैं जो खाड़ी देशों में माली, चौकीदार के रूप में काम कर रहे हैं। बल्कि वे उच्च वेतनभोगी भारतीय हैं जो डॉक्टर, इंजीनियर और प्रबंधक के रूप में विलासपूर्ण जिंदगी जी रहे हैं। पहली श्रेणी के उपन्यासकार विदेश में ही पैदा हुए वहीं शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की और जीवन संघर्षों को गहराई से अनुभूत किया। उन्हीं जीवन-संघर्षों को उन्होंने अपने उपन्यास का उपजीव्य बनाया। आगे इन्हीं उपन्यासकारों के उपन्यासों पर संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

प्रवासी कथाकार

मारीशस के अभिमन्यु अनत और फीजी के विवेकानन्द शर्मा को महत्वपूर्ण प्रवासी हिन्दी उपन्यासकारों में परिगणित किया जाता है। वैसे तो अभिमन्यु अनत ने एक दर्जन से ज्यादा उपन्यास लिखे हैं। लेकिन गिरमिटियों के जीवन संघर्ष को यदि देखना हो तो उपन्यास-त्रयी के रूप में लिखे गये उनके तीन उपन्यासों को भुलाया नहीं जा सकता। उनके इस उपन्यास-त्रयी की शृँखला में पहला उपन्यास 'लाल पसीना' है जिसके बारे में उपन्यासकार ने कहा है- "लाल पसीना उस इतिहास का दावा नहीं करता । यह इसलिए भी इतिहास नहीं क्योंकि शासक, राजनेता, राज्यपाल और इस तरह की अन्य हस्तियाँ इसमें पात्र नहीं हैं इसके पात्र वे हैं। जो इतिहास की चक्की में पिसकर रह जाते हैं, पर उनका पिसा जाना इतिहास रहा है, यह इस उपन्यास का दावा है।"[19] इतिहासकार केवल तथ्यों का ही संकलन नहीं करता बल्कि तथ्यों का विश्लेषण करता है जिसके माध्यम से तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थितियों की झलक मिलती है। तथ्यों के विश्लेषण के समय इतिहासकार भी अनुमान का सहारा लेता है लेकिन एक सीमा तक ही। उपन्यासकार जीवन को समग्रता में देखने का आग्रही होता है, जिसके कारण उसके लिए मानवीय मूल्य मुख्य और ऐतिहासिक तथ्य गौण हो जाते हैं। हालांकि कल्पना इतिहास एवं उपन्यास दोनों में होती है लेकिन एक में कुछ कम और दूसरे में कुछ ज्यादा। कथाकार का इतिहास के बारे में यह तर्क कि उपन्यास में शासक, राजनेता और राज्यपाल आदि पात्र नहीं हैं। इसलिए इतिहास का दावा नहीं किया जा सकता। यह तर्क इतिहास के लिए कोई मायने नहीं रखता क्योंकि आज जो सबाल्टर्न इतिहास लिखा जा रहा है उसमें इन्हीं तथाकथित सामाजिक निचले तबकों के ऐतिहासिक संघर्ष को स्थापित करने की कोशिश हो रही है। 'लाल पसीना' भी इन्हीं गिरमिटियों के ऐतिहासिक जीवन-संघर्ष की कलात्मक अभिव्यक्ति है। इस उपन्यास के बारे में डॉ श्यामधर तिवारी की टिप्पणी बड़ी सटीक है-'लाल पसीना' उपन्यास में मजदूर पीढ़ी दर पीढ़ी पसीना बहा रहे हैं। उनका पसीना, पसीना न होकर लाल रक्त ही होता है, क्योंकि एक तो मजदूर इतना अधिक परिश्रम करते थे कि उनका सारा खून पसीने के रूप में निकल आता था दूसरे मालिकों के बाँसों एवं कोड़ों के बौछार से रक्तरंजित हो जाते थे। उनके परिश्रम का यही पुरस्कार होता था।"[20] उपन्यास में ऐतिहासिक युग सत्य को दर्शाया गया है न कि ऐतिहासिक तथ्यों को। इसमें मजदूरों की जीवन-गाथा का व्यथापूर्ण इतिहास झलकता है न कि अतिरंजित कल्पना। भारतीय मजदूरों ने अपना खून पसीना बहाकर द्वीप को तो समृद्ध किया लेकिन उन्हें निरन्तर

लाँछन, प्रतारणा और अपमान का घूँट ही पीना पड़ा। उपन्यास का प्रारम्भ मारीशस द्वीप के जन्म से हुआ है। यह द्वीप बहुत समय तक उपनिवेशवादियों का उपनिवेश रहा था। इस द्वीप में भारतीय मजदूरों का आगमन अँग्रेजों के समय में हुआ था और इन्हीं के समय में मजदूरों को सबसे ज्यादा यातनाएँ भी झेलनी पड़ी थीं। इन्हीं यातनाओं की बेबाक अभिव्यक्ति है 'लाल पसीना'।

अँग्रेजी जमींदारों के दलाल आरकाठी भारतीय मजदूरों को बड़े लुभावने वायदे के साथ उपनिवेशों में ले जाते थे। वे मजदूरों से सुरक्षा, स्वास्थ्य, भोजन एवं दैनंदिन वस्तुओं को देने का वादा करते थे- "वह दूर नहीं, वहाँ कोई भूखा नहीं मर सकता, अनाज बेशुमार है वहाँ रूपया और सोना तो हर पत्थर के नीचे है। जिन चीजों के लिए तुम यहाँ तड़प रहे हो, वहाँ ये ही चीज़ें तुम लोगों के लिए तड़प रही हैं।"[21] जिस देश में लगान की नई नई पद्धतियों से किसानों की हालत बदतर हो चुकी हो और मजदूरों को भी दिन भर के कठिन परिश्रम के बाद एक जून की रोटी नहीं मिल पाती हो, उन लोगों को ये लुभावने प्रलोभन क्यों नहीं भायेंगे ? लेकिन जब वे जहाज से द्वीप पर उतरते हैं तो नजारा कुछ दूसरा ही पाते हैं- "जहाज से उतरते ही गले में नम्बर लटकाये खेतों में झोका जाना, आधा पेट खाना, आधा देह कपड़ा, पीठ पर बासों की बौछार और...।"[22] इससे बड़ा तोहफा और क्या हो सकता है मजदूरों के जीवन-सुधार के लिए। आए थे सोना खोदने, पड़ती है बाँस की मार। इससे बदतर हालत तब होती है जब वे अनैतिक काम करने से मना करते हैं- "कोई बैल जैसा काम करने से इनकारी के कारण इधर आ गये थे कोई भारत लौटने की माँग करके, कोई न्याय की दुहाई करता हुआ, तो कोई बीमारी की वजह से तीन दिन नौकरी पर न पहुँच सकने के कारण। किसी की गिरफ्तारी इसलिए हो गयी थी कि उसने अपने गले में नम्बर लिखे टीन के टुकड़े को निकाल फेंका था, किसी ने सरदार से मुँह लगाने की हिम्मत की थी जिस व्यक्ति ने पहले दिन भीतर आते ही आत्महत्या कर ली थी, उसकी गिरफ्तारी इसीलिए हुई थी कि सरदार की माँग पर उसने अपनी खूब सूरत पत्नी को पहली रात मालिक के घर नहीं पहुँचाया था।"[23] मजदूरों को इतनी ही यातनाएँ नहीं दी जाती थीं बल्कि जेल में आने के बाद जेल कर्मचारियों की पशुता का भी शिकार होना पड़ता था। कैदियों को कटोरे के नाम पर नारियल का आधा कटा भाग दिया जाता था जिसमें वे खाना खाते और पानी पीते। यदि किसी कैदी को चोट लग गयी तो उसे मलहम के स्थान पर नमक मिली पेंसिलीन दी जाती जिससे कैदी का घाव सूखने की बजाय और बढ़ जाता और अंततः कैदी मर जाता था। गन्ना मालिक बात-बात पर नंगे बदन पर कोड़े लगवाते और उस पर नमक मलवाते। ईख से लदी गाड़ी को बैलों के स्थान पर मजदूरों को खींचने के लिए विवश करते, गन्ने का कोल्हू चलवाते। यदि इन कामों को करने में मजदूर असमर्थ होता तो हण्टरों की मार पड़ती। मजदूरों को गन्ने के रस में डुबो कर चींटियों से कटवाया जाता। जो मजदूर अपनी बेटियों एवं पत्नियों को मालिक की हवस मिटाने के लिए नहीं भेजते, उन्हें कोड़े की मार पड़ती। गोपाल की माँ भगवती एवं ताँगची ने आत्महत्या कर लिया क्योंकि उनके साथ मालिक ने बलात्कार किया था।

इन्हीं सब अनैतिक कार्यों के चलते कुंदन एवं किसन ने मजदूरों की बस्तियों में आत्मचेतना जगाने का काम किया जिससे मजदूरों ने मालिकों के अनैतिक कार्यों का विरोध करना शुरू कर दिया और अपनी अदम्य जिजीविषा के बल पर सब जुल्मों को सहते हुए आगे बढ़ते गये। जिन मजदूरों ने मारीशस की धरती को हरा-भरा करने के लिए अपना खून पसीना एक कर दिया था उन्हीं मजदूरों के साथ पशुवत व्यवहार किया जाता था। ऐसी थी दृष्टि उपनिवेशवादियों की भारतीय मजदूरों के प्रति!

उपन्यास-त्रयी की शृँखला में दूसरे एवं तीसरे उपन्यास हैं- 'गाँधीजी बोले थे' और 'और पसीना बहता रहा'। 'गाँधी जी बोले थे' उपन्यास में गिरमिटियों की सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना को दर्शाया गया है। साथ-साथ उनके काइयाँपन को भी उजागर किया गया है। मजदूर गिरमिट प्रथा से तो मुक्त हो जाते हैं लेकिन

उनकी गुलामी अभी भी बरकरार है। इस गुलामी का कारण सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक था। अँग्रेज मालिक मजदूरों में फूट डालने की कोशिश करते थे कभी धर्म के नाम पर तो कभी जाति एवं क्षेत्र के नाम पर। मारीशस मे गाँधी के भाषणों से मजदूरों में शिक्षा के प्रति जागरूकता बढ़ती है, साथ ही साथ राजनीतिक चेतना भी। गाँधी जी का कहना था- "राजनीति से दूर रहकर आप अपने अधिकारों को नही पा सकते। लोग आपकी इज्जत करना सीखें इसके लिए आप लोगों को सक्रिय राजनीति में भाग लेना होगा। आपके प्रतिनिधि को बाहर से नहीं बल्कि विधान सभा के भीतर से अपने-अपने अधिकारों का तकाजा करना होगा... आप लोगों से एक दूसरा अनुरोध है। इस देश के भारतीय मजदूरों के बच्चों को भी देख रहा हूँ।... ये बच्चे मेधावी हैं। इन्हें सही शिक्षा की आवश्यकता है। आप जी जान से अपने बच्चों को पढ़ायें। ये ही राष्ट्र के सर्वज्ञ बनेंगे ....इस देश के स्कूलों में हरेक बच्चों के लिए जगह होनी चाहिए। वह शिक्षा ही है जो आपके बच्चों को किसी के भी सामने खड़े हो जाने की शक्ति दे सकती है।"[24] गाँधी जी के भाषणों के प्रभाव से मजदूरों में सामूहिक रूप से संघर्ष करने की चेतना जागृत हुई लेकिन उनकी एकता को अँग्रेज मालिकों ने तरह-तरह के षडयन्त्रों के द्वारा असफल करने की कोशिश की। लेकिन जुझारू मजदूरों ने सभी षडयन्त्रों को असफल करते हुए अंततः विधान सभा में भी अपनी जगह बना ली।

उपन्यास-त्रयी की शृँखला का तीसरा उपन्यास 'और पसीना बहता रहा' भी मजदूरों के अधिकार प्राप्त करने की गाथा है। अधिकार प्राप्ति के बावजूद भी मजदूरों का शोषण कायम रहा। आर्थिक अभाव उन्हें मालिकों के यहाँ काम करने को बाध्य कर देता था। अब मजदूरों का एक संगठन भी हो गया था जिसने कोठी बेगार एवं कीड़े पड़े अनाज के विरोध में आन्दोलन करना शुरू कर दिया था लेकिन अभी भी मजदूरों को गन्ने के रस में डुबाकर पेड़ से टाँग दिया जाता था। जब तक चींटियाँ शरीर को कँकाल में परिवर्तित नही कर देती थीं। तब तक पेड़ से शरीर को नहीं उतारा जाता था। लेकिन इन अमानवीय जुल्मों के प्रति संघर्ष जारी था। अन्ततः मजदूर अपने प्रतिनिधि को विधान सभा में भेजने में सफल होते हैं और मताधिकार भी प्राप्त कर लेते हैं।

तीनों उपन्यास भारतीय गिरमिटिया मजदूरों के संघर्ष का महाकाव्य है। प्रवासी मजदूरों को जिन जुल्मों, कष्टों एवं अत्याचारों को सहना पड़ा उसकी विस्तृत जानकारी इन उपन्यासों से मिलती है। वैसे तो उपन्यास इतिवृत्तात्मक और घटनात्मक हैं परन्तु अपने कथ्य के कारण महत्वपूर्ण हैं। निश्चय ही इन उपन्यासों मे कलात्मकता का अभाव है लेकिन मजदूरों के जीवन संघर्षों को चित्रित करने में कथाकार को पूरी-पूरी सफलता मिली है।

मारीशस के समान फीजी में भी भारतीय गिरमिटिया मजदूर गये थे। फीजी भी अँग्रेजों का उपनिवेश था जिसमें गन्ना उत्पादन करने के लिए भारतीय मजदूर गये थे। इन मजदूरों की पीड़ा कमोबेश एक जैसी ही थी, चाहे फीजी हो या मारीशस, गुयाना, सूरीनाम त्रिनिदाद और दक्षिणअफ्रीका जैसे उपनिवेश। सभी उपनिवेशों में मजदूरों से पशुवत व्यवहार किया जाता था। वहाँ भी मजदूरों को आरकाठी (अंग्रेजों के दलाल जो भोले भाले लोगों को गिरमिटिया बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे) लुभावने वादों के साथ लाये थे इन मजदूरों के साथ भी वही व्यवहार किया जाता था, जो मारीशस के मजदूरों के साथ किया गया था। इसी करूणा, संत्रास एवं पीड़ा को विवेकानन्द शर्मा ने अपने उपन्यास 'अनजान क्षितिज ओर' में व्यक्त किया है। फीजी में गिरमिटिया मजदूरों का पहला दल 14 मई, 1879 ई० को लियोनिदास जहाज के द्वारा पहुँचा। जहाज की अव्यवस्थित एवं शीलन भरी यात्रा ने 14 मजदूरों को रास्ते में ही काल के गाल में डाल दिया- "जहाज के फर्श पर सोने के लिए एक-एक टाट, खाने-पीने के लिए बर्तन के रूप में टीन की एक-एक थाली और लोटा दिया गया था... बस दिन भर के लिए एक-एक लोटा पानी मिलता था। प्यास लगने पर चाहे उसे पीकर गला सींच लें या उल्टी हो जाने पर उसी से कुल्ला कर लें।" [25]

अँग्रेजों को यह डर हमेशा सताता रहता था कि यदि भारतीय मजदूरों को अच्छा खाना-कपड़ा दिया गया तो उनसे काम करवाना मुश्किल हो जायेगा। इसी मानसिकता के चलते अँग्रेज गिरमिटियों का शोषण अधिक करते थे। उपन्यास फ्लैश बैक शैली (Flash Back Style) में लिखा गया है। सुचित महाराज जो कि गिरमिट के रूप में फीजी गया था, जीवन की विगत घटनाओं पर अपने नाती विमल से चर्चा करता है और वह उसे कलम बद्ध करता है। यह उपन्यास गिरमिटियों की तीन पीढ़ी की व्यथा-कथा है। जहाज में मजदूरों को भेड़-बकरी की तरह लादा जाता था जिससे वे रास्ते में ही अनेक बीमारियों के शिकार हो गये थे। कितनों ने तो रास्ते में ही दम तोड़ दिया था। उपन्यास का एक प्रसंग द्रष्टव्य है- "अधिकांश सह यात्री उल्टी एवं दस्त के शिकार हो गये। हमारे साथ-साथ कुछ भेड़ बकरियाँ भी जा रही थीं और उन्हें भी हमारे साथ रखा गया था... लोग उल्टी करते-करते बेहोश हो जाते या दुर्गन्ध पूर्ण कमरे में बीमार हो जाते। सही दवा-दारू का प्रबन्ध न होने के कारण कुछ लोग दम तोडने लगे। शव को समुद्र में फेंक दिया जाता, उसे सार्क मछली खा जाती।"[26] फीजी पहुँचने पर भारतीय मजदूरों को चीनी चालने के बदले जंगल साफ करने को दिया जाता था। सबको अपनी तास पूरी करनी पड़ती थी चाहे स्त्री हो या पुरूष। कोई किसी की मदद नहीं कर सकता था। मजदूर काम करते-करते बेहोश हो जाते थे इस दुःख को स्त्रियाँ जतसार गाकर एवं पुरूष आल्हा गाकर आपस में बाँट लेते थे। इन गीतों मे मजदूरों की पीड़ा व्यक्त हुई है-

"एक राम हरि मोरे गइ ले विदेसवा
सकल दुःखवा देई गइले हो राम
एक राम सासु ननदिया बिरही बोले ली
के कर कमाई खइबू हो राम।"[27]

एक गिरमिटिया महिला मजदूर ने कामांध मालिक की डर से नदी में छलांग लगा ली थी जो आज भी फीजी में देवी के रूप में पूजी जाती है। गिरमिटिया मजदूर मार खाते, कष्ट सहते किसी तरह गिरमिट की अवधि पूरी करते थे। उनके जीवन में बहुत ही क्षीण गति से सुधार आया पर आज हालत यह है कि गिरमिटियों की तीसरी पीढ़ी ने देश की अर्थ-व्यवस्था और राजनीति में खासी पैठ बना ली है। आज तो स्थिति यह है कि हर उपनिवेश में उस समय के गिरमिटिया मजदूरों की संताने अच्छी स्थिति में हैं। इन लोगों में वहाँ की अर्थ-व्यवस्था और राजनीति में भी अपनी अच्छी खासी पैठ बना ली है। कुछ उपनिवेशों में तो शासन का सूत्र संचालन भी इन्ही गिरमिटिया-संततियों के हाथ में है।

भारतीय कथाकार

'पहला गिरमिटिया' से पूर्व गिरमिटिया मजदूरों की समस्या पर प्रवासी उपन्यासकारों ने ही अपनी लेखनी चलाई थी। भारतीय और खास तौर से हिन्दी उपन्यासकारों ने स्वतंत्रता के बाद विदेश गए उच्च मध्य वर्ग करे ही अपने उपन्यासों में अभिव्यक्ति प्रदान की है। भारतीय उपन्यासकारों में जिन्होने प्रवाससी जीवन संघर्षों पर अपनी कलम चलायी है उनमे निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा, रामकुमार, कृष्ण बलदेव वैद, लक्ष्मीधर मालवीय, सुनीता जैन, मीनाक्षी पुरी, योगेश कुमार, महेन्द्र भल्ला और मृणाल पाण्डेय आदि कथाकारों का नाम लिया जा सकता है। इन्होंने अपने उपन्यासों में विदेशी वातावरण, विदेशी एवं भारतीय पात्रों की स्थिति, साहसिक स्त्री-पुरूष के उन्मुक्त यौन संबंध एवं यत्र-तत्र अस्तित्ववादी चिन्तन के सूक्ष्म प्रभाव को अभिव्यक्त किया है। वहाँ की स्थितियों में क्यों सर्वत्र संबंधों में पराया पन, कटा-कटापन अजनबीयत आस्थाहीनता असंतोष एवं मूल्य-हीनता व्याप्त है ? इन सभी सवालों पर इन कथाकारों ने मार्मिक ढंग से विवेचन किया है।

प्रवासी भारतीय विदेशों में किस प्रकार से अभिशप्त जीवन जी रहे हैं ? कहाँ-कहाँ पर वे किस तरह से भारतीय मूल्यों की तलाश में भटक रहे हैं ? इन सब के मार्मिक चित्रण के साथ, परिवेश से जूझते संघर्ष करते प्रवासियों की प्रतिक्रियाएँ आदि इन उपन्यासों के उपजीव्य हैं। एक बात तो स्पष्ट है कि बेहतर जिंदगी जीने की आकांक्षा से भारतीय विदेश गये। लेकिन ऐसा कौन-सा कारण है जो उन्हें बार-बार अपने देश लौटने के लिए प्रेरित करता है और अपनी धरती से जुड़ने का मोह कचोटता रहता है। डॉ सुब्रहमण्यम स्वामी के अनुसार - "कम उम्र में ही अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविघालय में पूर्ण प्रोफेसर हो जाने के बावजूद भी मुझे सदैव यह महसूस होता रहा कि वहाँ रहकर चाहे मैं कितनी उपलब्धियाँ क्यों न प्राप्त कर लूँ, सदैव विदेशी ही कहलाऊँगा तथा अमरीकी समाज मे वह स्थान न पा सकूँगा जो अपने देश में मिल सकता है। दूसरा कारण मेरा भारत के प्रति मानसिक दबाव था।"[28] यह प्रवासी भारतीयों की विडम्बना ही है कि भारत के प्रति मानसिक दबाव रहते हुए भी भारत नही लौट पाते। कारण, जब उन्हें भारत की गरीबी भ्रष्टाचार एवं रिश्वत खोरी की याद आती है तो फिर उनका मन स्वदेश लौटने को तैयार नहीं होता। उनके अन्दर भारतीय संस्कृति का आकर्षण बना रहता है। जब उनके साथ विदेशियों द्वारा दोयम दर्जे के नागरिकों जैसा व्यवहार होता है तथा भेद-भावपूर्ण द्रष्टि से देखा जाता है तो प्रतिक्रिया स्वरूप लौटने की इच्छा बलवती होती जाती है। इंग्लैण्ड में रंग भेद की समस्या के कारण भारतीय मानसिक एवं शारीरिक यंत्रणा के शिकार होते हैं। उन्हें 'कालू अपने देश जाओ' जैसी गालियाँ सुननी पड़ती हैं जिससे वे स्वदेश लौटने के लिए व्याकुल हो उठते हैं। पैसा कमाने की प्रवृत्ति और बेहतर रहन-सहन की आकांक्षा के कारण इन सभी समस्याओं को झेलना उनकी मजबूरी हो गयी है।

औद्योगीकरण एवं सूचना तकनीकी का जैसे-जैसे विकास होता गया, समाज में भौतिकवादी प्रवृतियाँ उसी अनुपात में बढ़ती गयीं जिससे 'अर्थ' की प्रधानता प्रभावी तत्व के रूप में बनती गयी। अर्थ की प्रधानता के कारण व्यक्तिवादिता को बढ़ावा मिला। जिससे संबंधों का टूटना आस्थाहीनता एवं अजनबीपन बढ़ता गया। भौतिकवाद ने मनुष्य को अपनी ही चहारदीवारी में बंद कर दिया है। इसीलिए व्यक्ति अपने को अकेला एवं असुरक्षित महसूस करता है। उसकी आत्मा घुट-घुटकर जिस पीड़ा-बोध का एहसास करती है उसका परिणाम व्यक्ति सब जगह से अलग-थलग, कटा हुआ और आत्म-निर्वासन जैसी असहाय स्थिति में पाता है। भारतीय व्यक्ति विदेशी परिवेश मे दोहरे जीवन-मूल्यों का शिकार होता है। आधुनिक जीवन-शैली अपनाने के कारण भारतीय मूल्यों का कहीं न कहीं अवमूल्यन जरूर होता है।

आधुनिक जीवन-शैली उपभोग-वाद और व्यक्तिवाद को बढ़ावा देती है जबकि भारतीय जीवन-शैली सह-अस्तित्व भाईचारा एवं समष्टिवाद में विश्वास करती है। जब इन्हीं मूल्यों पर आघात लगता है तो उसे अपने परिवार समाज और देश की याद आती है और वह अपनी जड़ों में सुकून तलाशने लगता है। एक तरफ वह पश्चिम के अन्धानुकरण का तीव्र अनुगामी बनता है। दूसरी तरफ पुरातनता की आसक्ति को छोड़ नहीं पाता। इसी द्वन्द्वात्मकता के कारण प्रवासी भारतीय दोहरे जीवन-मूल्यों सामाजिक एवं नैतिक क्षेत्र- में पिसता रहता है। डॉ मधु संधू ने निर्मल वर्मा के बारे में ठीक ही कहा है। -"उनका प्रवासी घर, नगर और देश से उखड़ने की अनुभूति भोगने के कारण समाज और स्वयं के समक्ष संदिग्ध हो गया। निरन्तर असुरक्षा महसूसने के कारण वह समाज से ही नहीं स्वयं से कट गया है। बाह्य एवं मानसिक विसंगतियों ने उसे अजनबी कह दिया। अति परिचय यांत्रिकता, अतीत से चिपकना आदि इस अजनबी-पन के अन्य कारण है।"[29] प्रौद्योगिकी एवं विश्व-बाजार ने जिस तरह से प्रतिस्पर्धा को बढ़ाया है उससे व्यक्तिवाद उपभोगवाद और स्वार्थपरकता जैसी दुष्प्रवृत्तियों को मिलना मुश्किल बात नहीं है। इन्ही दुष्प्रवृत्तियों का शिकार भारतीय होते हैं। कुछ दिन तो यह प्रवृत्ति अच्छी लगती है लेकिन धीरे-धीरे यह कोहरा छँटता जाता है जिससे वे एलियनेशन के शिकार होते है। पश्चिमी संस्कृति के बारे में निर्मल वर्मा ने

लिखा है- "पश्चिम की (बर्लिन) सबसे बड़ी आध्यात्मिक अपील अमरीकी सिगरेटें, स्काच, व्हिस्की, फ्रेंच, कौन्याक, नायलन कमीजें, तथा हेनरीमिलर और वात्स्यापन की पुस्तकें (मेरा अभिप्राय 'कामसूत्र' के वात्स्यायन से है) हैं जिन्हें देखने एवं खरीदने हजारो लोग पूर्वी जर्मनी से आते हैं, जहाँ तक इन चीजों के प्रति आकर्षण का प्रश्न है, मैंने पूर्वी एवं पश्चिमी बर्लिन के लोगों में कोई भेद नहीं देखा, उनके राजनीतिक सिद्धान्त अथवा आध्यात्मिक मान्यता एक दूसरे से कितनी ही भिन्न क्यों न हों... इसलिए एक प्रश्न बार-बार मँडराता है, क्या पश्चिमी युरोप बर्लिन में 'स्ट्रिपटीज' और 'नाइट क्लबों' के अलावा अपनी सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्रदर्शित करने का कोई दूसरा बेहतर माध्यम प्रस्तुत नहीं कर सकेगा।"[30] इसी संस्कृति के कारण सर्वत्र व्यक्तिवाद का बोलबाला रहता है जिसमें मानवीय संवेदनाओं के लिए कोई जगह नही रहती। उनको दिन-रात केवल हाय ! पैसा-हाय ! पैसा ही लगा रहता है। उनके लिए व्यक्ति संबंध कोई मायने नहीं रखता लेकिन एक भारतीय व्यक्ति संबंधों को काट कर जी नहीं सकता, उन्हें कुछ दिन बाद ही आत्मीयता की भूख सताने लगती है, वह अतीत एवं वर्तमान की याद कर भविष्य के प्रति आशंकाकुल हो जाता है। एक तरफ, भारतीय जीवन-दर्शन का प्रेमी है तो दूसरी तरफ, पश्चिमी जीवन-दर्शन में जीने का आदी हो गया है उसे छोड़ नही पाता। यही कारण है कि एक प्रवासी भारतीय चाहकर भी अपने बीवी बच्चों में भारतीय संस्कार डाल नहीं पाता परिणामतः दिनों-दिन आत्म-संघर्ष बढ़ता चला जाता है। जर्मनी में रह रहे भारतीयों के आत्म संघर्ष को मीनाक्षी पुरी ने अपने उपन्यास 'देश निकाले' मे अभिव्यक्त करने की कोशिश किया है- "जब इतना संकीण द्रष्टिकोण है मलहोत्रा साहब... तो क्यों की शादी काट्या से ? काट्या जर्मन है... एक शादीकर चुकी है। और शादी के पहले ही जर्मन लड़कियाँ...।...जर्मन है आपकी बीवी...इसे हिन्दुस्तानी क्यों बनाने की कोशिश कर रहे हैं आप?"[31] इसी तरह जब बेटी बॉयफ्रेंड घर लाती है तब उनकी भारतीय मानसिकता फिर उभर आती है- "दोनो मे से कोई भी बॉयफ्रेंड ले आयी तो उड़ा दूँगा गोली से...तो चलो वापिस दिल्ली न होगा बॉयफ्रेंड न आयेगी दादी जी को लेकर शर्म- 'यहाँ' के ठाठ दिल्ली में कहाँ से लाऊँगा।"[32] यही भारतीय जीवन दर्शन है जिसमें पति, पत्नी को छोड़कर और पत्नी, पति को छोड़कर अन्य किसी दूसरे पुरूष से शारीरिक संबंध नही रख सकती। लेकिन जब कोई व्यक्ति खुद उन मूल्यों और मर्यादाओं को तोड़ता है तब दूसरों से पालन करने की उम्मीद कैसे कर सकता है ? यही कारण है कि मलहोत्रा साहब जर्मनी छोड़ना उचित समझते हैं लेकिन भारतीय मूल्यों को टूटते नही देख पाते। इस दोहरे जीवन-दर्शन के कारण कुंठा, हताशा, निराशा जैसी दुष्प्रवृत्तियों का जन्म लेना स्वाभाविक है। इसी प्रकार की मनःस्थिति कुछ इंग्लैण्ड मे बसे भारतीयों की है- "भारतीय वहाँ पन्द्रह साल से भी रह रहा हो तब भी उसके तौर-तरीके, खाना-पीना वही रहेंगे.. ..... और धर्म के तो कभी बदलने का सवाल ही नहीं। इसीलिए वे न केवल अँग्रेज को बल्कि उस समाज में घुले-मिले विदेशी अफ्रीकी को भी खटकते है।"[33] विदेशी सभ्यता एवं संस्कृति से जब हिन्दुस्तनियों का टकराव होता है तो उसे न तो पूर्णरूप से स्वीकार कर पाते हैं न छोड़ पाते हैं इसी द्वन्द्व के चलते उनकी पहली प्रतिक्रिया 'स्वदेश लौट चलो' की होती है। वहाँ गये तो थे स्वर्ग की परिकल्पना करके पर पाते हैं संबंधो की सारहीनता ।

घर आने की मृगतृष्णा को महेन्द्र भल्ला ने अपने उपन्यास 'दूसरी तरफ' में बड़े बेबाक ढंग से प्रस्तुत किया है उन्होंने इंग्लैण्ड में रह रहे भारतीयों पर रंगभेद की जटिल समस्या को रेखांकित करने की कोशिश की है तथा भारतीय अपने देश क्यों नही लौट पाते इस सत्य को भी पकड़ने का प्रयास किया है- "केवल को देखकर योग को दिल्ली, करोल बाग, अपना ब्लाक, अपना घर, अपना बचपन और पहला यौवन सब याद आ रहा था... सबसे ज्यादा वह अघुटापन, वह सहजता, वह साफ हिन्दुस्तानी जो उसने विलायती चीजों के लिए लोलुप से लोलुप हिन्दुस्तानी पर्यटक में देखी थी। उसके मन में कचोट हुई और उसने निश्चय किया कि वह हर हालत में दिल्ली लौट आयेगा।"[34] लेकिन तभी उसे हिन्दुस्तान की गरीबी, निर्धनता, बेरोज़गारी का दम तोड़ने वाला रूप याद आता

है- " 'हाँ' घर तो वही है इसमें संदेह नहीं। मगर घर में रहकर भूखों मरना या गरीबी में रहना अच्छा कि यहाँ दूसरे दर्जे के सिटिजन की तरह थोड़ा अपमान सहकर अच्छा खाना-पीना, पहनता अच्छा है, मेरी समझ में नहीं आता। कई बार मैंने फैसला किया है कि यहीं रहूँगा । इसी वजह से यह मकान भी खरीदा, गाड़ी भी ली सब कुछ बढ़िया मिला, लेकिन कुछ ही दिनों बाद घर जाने वाली बात कुरेदने लगती है जिससे न पूरी तरह इधर के हो सकते हैं और न उधर के।"[35] यही सत्य है कि वे अपमान झेलकर भी वहीं रह जाना चाहते हैं। क्योंकि जिस जिंदगी को जीने के आदी हो चुके हैं, उस जीवन-शैली को वे छोड़ नहीं पाते और न पाश्चात्य मूल्य पूर्णरूप से ग्रहण कर पाते हैं। जो कोशिश करके लौट भी आते हैं, वे अपने को इस समाज में 'मिसफिट' महसूस करते हैं- "शान्ति मिली ? मनीष मुस्कराया, 'नही मिली'...कुछ अजीब-सी किस्म की हो गयी हूँ न वहाँ सुखी थी न यहाँ।"[36] जो भी भारतीय प्रवास-गमन करता है उसे पहले-पहल अपनी संस्कृति, देश, घर एवं माता-पिता की बार-बार याद आती हैं। लेकिन धीर-धीरे उसी उपभोक्तावादी संस्कृति में फँसता चला जाता है और वहीं का बन कर रह जाता है फिर भी कभी-कभी मन भारत को आने के लिए प्रेरित करता रहता है अर्थात अपनी जड़ से भावनात्मक रूप से जुड़ा रहना चाहता है वे भले ही भिन्न संस्कृति आचार-विचार, व्यवहार, रहन-सहन और तौर-तरीकों के बीच रहे लेकिन भारतीयता को विस्मृत नहीं कर पाते। इसी सत्य को योगेश कुमार 'सूखा स्वर्ग' मे उद्घाटित करते है- "घर मे मिलने वाले समाचार यहाँ अनोखी सूरत अख्तियार कर लेते हैं। पत्र का आना साधारण बात नहीं। थोड़े समय के लिए आदमी उड़कर भारत की भूमि पर पहुँच जाता है।....सबकी आँखों में भारत का नक्शा घूम रहा है। वह भारत जहाँ तीन सौ माँएँ रहती थीं, छः सौ बहनें, नौ सौ भाई और सौ-डेढ़ सौ बीवियाँ एवं प्रेमिकाएँ जिनसे बिछड़कर हजारों मील दूर तीन सौ भारतीय पात्र शराब पी रहे थे।"[37] घर की बार-बार याद आना और स्वदेश वापस आने की चेतना आते ही यहाँ की वास्तविक स्थितियों से सिहर उठना फिर भी अपने मन में एक नास्टेलजिया पाले रखना, यह प्रवासियों के लिए एक विडम्बना ही है। इसी मनःस्थिति की गहराई को महेन्द्र भल्ला ने 'उड़ने से पेशतर' में व्यक्त किया है-"चौथे से पाँचवे साल भारत माता की भावुक तीर्थ यात्रा करने की बात और है मगर हमेशा के लिए कभी नहीं। रिटायर होने पर भी नहीं। बच्चे यहाँ हैं, यहीं बड़े होंगे यहीं पढ़े-लिखेंगे, यहीं काम करेंगे, उनके न चाहने पर भी यहीं कमोबेश (बेश ज्यादा) अँग्रेज होंगे (यों गोरे नहीं) यहीं शादियाँ करेंगे। वे लोग बुढ़ापे में वहाँ किसके पास जायेंगे ? जो लोग अब घर लगते हैं। (घर एकदम मूलतः कुछ ही होते हैं) वे भी तब तक ज्यादातर मर खप चुके होंगे। इस उदास कर देने वाली समझ के बावजूद लौटने की तमन्ना किसी लाइलाज बीमारी की तरह उन्हें बराबर सताती रहती है।"[38] इस लाइलाज बीमारी से करीब-करीब हर प्रवासी भारतीय जूझता है, क्योंकि यहाँ की आर्थिक विपन्नता को देख कर वह खुद को 'मिसफिट' महसूस करने लगता है।

यही कारण है कि देश-प्रेम, मानव-प्रेम उभरने के बावजूद भी वे उसी भौतिकतावादी घेरे में बँधकर धीरे-धीरे उसी चमक-दमक भरी दुनिया में रहने के आदी हो जाते हैं, लेकिन इस ऊपरी चमक-दमक के पीछे उनके मन में एक रिक्तता सदैव बनी रहती है। इसी रिक्तता के कारण वे अनजाने अकेलेपन की भयंकर त्रासदी से आक्रांत हो जाते हैं। उन्हें आन्तरिक शक्ति और सुकून नहीं मिलता। इसी अन्तर्विरोध को 'रूकेगी नही राधिका' में उषा प्रियंवदा ने शब्दबद्ध करने की कोशिश किया है- "जब हम अपना देश छोड़कर बाहर जाते हैं, तो पहले छः महीने हम एक 'कल्चरल शॉक' के दौरान बिताते हैं, जब कि हर स्तर पर हमें अपना देश, अपनी संस्कृति ऊँची दिखाई देती है। फिर हम उस देश में रहने के आदी हो जाते हैं। दो-ढ़ाई साल उस नये देश में रहकर उनके रीति-रिवाज के आदी होकर हम अपने देश में वापस आते हैं तो हमें एक धक्का दुबारा लगता है, कल्चरल शॉक।"[39]

प्रवासी जीवन में अकेलेपन की भीषण त्रासदी सदैव छायी रहती है, जिससे निःसृत खालीपन, मृत्यु से भय, दुःख की छाया, घुटन आदि सदैव व्याप्त रहती है। भारतीय भी इन सब दुष्प्रवृत्तियों के शिकार होते हैं। वे 'पैसे' को जीवन की हर समस्या का समाधान मानने लगते हैं। युरोपीय जीवन-शैली को निर्मल वर्मा अपने उपन्यास 'वे दिन' में भी उद्घाटित करते हैं। दो महायुद्धों के बाद चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में रह रहे व्यक्तियों की मानसिक विछिन्नता एवं दुख-दर्द को उपन्यास का मूल कथ्य बनाया गया है। रायना के माध्यम से उपन्यास में अकेलेपन, जिजीविषा और मृत्युबोध जैसी स्थितियों को दिखाया गया है। अकेलेपन के संत्रास से ग्रसित होकर इंदी का शराब के नशे में धुत होना और रायना को विगत समृतियों के कारण खालीपन एवं व्यर्थता का एहसास होना आदि अस्तित्ववादी दर्शन की ओर संकेत करता है। उपन्यास का प्रत्येक पात्र अनास्था, घुटन, कुंठा, संत्रास और अकेलेपन से संत्रस्त हैं। 'क्षण' को जी लेने का आदी हो गया है - "समय कुछ मायने नहीं रखता अगर हम एक सुलगते क्षण में अँधेरे के बीच उस ताप को पकड़ सकें...यह जानते हुए भी कि वह जीवित नहीं रहेगा...उसके बुझने के बाद हम फिर दुबारा अपने अँधेरे मे ठिठुरने लगेंगे।"[40] ... "यह अकेलापन-जो दुःख पीड़ा आँसुओं से बाहर है- महज़ जीने के नंगे बनैले आतंक से जुड़ा है- जिसे कोई व्यक्ति निचोड़कर बता नही सकता।"[41] पाश्चात्य संस्कृति की इससे बड़ी भीषणता और क्या हो सकती है कि मनुष्य अपने सुःख को केवल क्षणों में देखता है, अपने जीने को नंगे बनैले आतंक से जोड़ता है यही आतंक उसे अजनबी बना देता है। ज्यों-ज्यों वैयक्तिकता-बोध एवं अस्मिता-बोध के प्रति सतर्कता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों अजनबीपन की अनुभूतियाँ दिनों-दिन बढ़ती जाती है। वह स्वंय व्यर्थता-बोध की अनुभूति से ग्रसित होता चला जाता है।

व्यक्ति-चेतना से ग्रस्त व्यक्ति विवाह भी आर्थिक-सुरक्षा, अकेले पन की भीषण त्रासदी तथा मन के खालीपन को भरने के लिए ही करता है - "आदित्य से नहीं मिलती तुम...तब, तुम्हारा अकेलापन तुम्हें आत्महत्या पर विवश कर सकता था। किसके साथ इस बोझ को अध्ययन और अनुसंधान कार्य के नाम पाई इस थकान को बाँटा जाय ?"[42] इस तरह के संबंधों में भावुकता का कोई स्थान नहीं है। इसमें सर्वत्र खोखलापन ही उजागर होता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के नाम पर सारे शाश्वत मूल्यों को एक ही झटके में बाहर कर दिया गया है।

निःसंदेह इन कथाकारों ने प्रवासी भारतीयों की समस्याओं को अनुभूत कर अपने उपन्यासों मे बड़े बेबाक ढंग से प्रस्तुत किया है। कहा जा सकता है कि इन कथाकारों ने भौतिकतावादी समाज की परिणतियों को प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता व्यक्ति को पूरे समाज से काटकर रख देती है, उसी प्रकार भौतिकतावादी संस्कृति भी मनुष्य को शान्तिपूर्ण जीवन जीने नही देती। इस सचाई को इन कथाकारों ने बड़े मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त किया है, लेकिन ये कथाकार समाज के उस हिस्से को ही अपने लेखन के केन्द्र में रखते हैं जो केवल समाज का 10-15 प्रतिशत है। कभी-कभी तो इनकी अनुभूति ओढ़ी हुई-सी प्रतीत होती है। समाज के उस हिस्से को ये अपने लेखन में बिलकुल उपेक्षित रखते हैं जिसे बहुसंख्यक कहा जाता है जो आज भी खाड़ी देशों और अन्य विकसित देशों मे माली-चौकीदार के रूप मे काम कर रहे हैं। इस तिक्तता को वे कथाकार अपने लेखन द्वारा पूरा करने की कोशिश कर रहे हैं जिनके पूर्वज गिरमिट प्रथा के अन्तर्गत ब्रिटिश उपनिवेशों में मजदूरी करने गये थे। वे मजदूरों की भोगी गयी यातनाओं को अपने लेखन का केन्द्र बना रहे हैं। स्वाभाविक है कि उन लेखकों मे अनुभूति की सच्चाई छिपी है।

इनकी रचनायें भले ही उतनी कलात्मक न हों लेकिन एक बार किसी भी सहदय पाठक को उद्वेलित किये बिना नही रहतीं। इन भारतीय लेखकों द्वारा लिखी गयी प्रवासी जीवन की रचनाओं की अपेक्षा प्रवासी लेखकों द्वारा लिखी गयी प्रवासी जीवन की रचनाओं में दम है। कलात्मकता के नाम पर उन्हें नजर अंदाज नहीं कर सकते।

संदर्भ ग्रन्थ

1	कालिका प्रसाद,	वृहद हिन्दी कोश,	पृ०.
2	सं. नगेन्द्र नाथ बसु,	हिन्दी विश्व कोश,	भाग 14, पृ. 640
3	Concise Oxforrd Dictionary		पृ०. 285
4	मनु	मनु स्मृति,	पृ०. 20
5	सं. बनारसीदास चतुर्वेदी	जीवन सहित्य (मासिक)प्रवासी अंक-1,मार्च 1974	
6	भवानी दयाल संन्यासी	प्रवासी की आत्म कथा,	पृ०. 11
7	सं०. अजित कुमार	बच्चन रचनावली, भाग-7	पृ०.16
8	अरविन्द कुमार	प्रवासी मजदूरों की पीड़ा,	पृ.47
9	वही		पृ०.48
10	नरेन्द्र शर्मा	प्रवासी के गीत,	पृ० 4
11	बिपिन चन्द्र	आधुनिक भारत,	पृ०. 62
12	वही		पृ०. 32
13	डॉ० के० हजारी सिंह	मारीशस में भारतीयों का इतिहास,	पृ०.
14	धर्मयुग	4 अगस्त, सन् 1974,	पृ.14
15	इन्द्रप्रस्त भारती	उपनिवेशों के मजदूरों के जाने का समय अ.-दि. 1999ई०.	
16	के. हजारी सिंह	मारीशस में भारतीयों का इतिहास,	पृ०. 16
17	नव भारत टाइम्स	वैज्ञानिक-शोध की दुर्दशा और प्रतिभा पलायन,	पृ०. 1988 ई०.
18	हिन्दी साहित्य कोश	भाग-1, पृ०.313	
19	अभिमन्यु अनत	लाल पसीना,	पृ.7
20	डॉ.श्यामधर तिवारी	अभिमन्यु अनतः व्यक्तित्व एवं कृतित्व	पृ०. 16
21	अभिमन्यु अनत	लाल पसीना,	पृ०.67
22	वही		पृ०. 26
23	वही		
24	अभिमन्यु अनत	गाँधी जी बोले थे, पृ.67	
25	विवेकानन्द शर्मा	अनजान क्षितिज की ओर, भूमिका से	
26	वही		पृ.48

27	वही		पृ०. 68
28	साप्ताहिक हिन्दुस्तान	25 अक्टूबर 1988 ई.,पृ.5	
29	डॉ०. मधु संधू	पृ०. 168	
30	निर्मल वर्मा	चीड़ों पर चाँदनी,	पृ०.26
31	मीनाक्षी पुरी	देश निकाले,	पृ०.162
32	वही		पृ०.177
33	गोविन्द मिश्र	कथ्य-भूमि (इंग्लैण्ड में भारतीयों की स्थिति)	
34	महेन्द्र भल्ला	दूसरी तरफ,	पृ०. 132
35	वही		पृ०.134
36	उषा प्रियंवदा	रूकोगी नही राधिका,	पृ०.70
37	योगेश कुमार	सूखा स्वर्ग,	पृ०. 238
38	महेन्द्र भल्ला	उड़ने से पेशतर,	पृ.8
39	उषा प्रियंवदा	रूकोगी नही राधिका,	पृ०.86
40	निर्मल वर्मा	वे दिन,	पृ०.192
41	वही		पृ०.207

द्वितीय अध्याय
पहला गिरमिटिया : कथ्य और स्वरूप

गिरिराज किशोर का उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' प्रवासी भरतीय मजदूरों के जीवन-संघर्ष की गाथा है। यह उपन्यास दो धरातल पर बँटा हुआ है। एक तरफ गिरमिटिया मजदूरों का जीवन-संघर्ष है तो दूसरी तरफ मजदूरों के संघर्ष का नेतृत्व कर रहे मोहनदास है। इस उपन्यास की खासियत यह है कि पहली बार किसी उपन्यासकार ने बहुसंख्यक जनता के संघर्षों एवं परिस्थितियों के द्वारा किसी व्यक्ति के चरित्र के उत्तरोत्तर विकास को उपन्यास के कथ्य में अनुस्यूत किया है। ज्यादातर उपन्यासकार प्रतिनिधि परिस्थितियों एवं प्रतिनिधि पात्रों के द्वारा आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों से टकराने की कोशिश करते हैं लेकिन गिरिराज किशोर ने विस्तृत कैनवास पर गिरमिटियों के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों को छूने की कोशिश की है। साथ ही उन परिस्थितियों से जूझते मोहनदास के संघर्षों को भी उन्होंनें अभिव्यक्त किया है।

उपन्यास का प्रारम्भ अँग्रेज बागान मालिकों की मजदूर समस्या से होता है। गुलामी प्रथा समाप्त होने के बाद कोई वतनी (दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासी) बागान मालिकों के यहाँ काम नही करना चाहता था। बागान मालिक मजदूरों से बड़ी बेरहमी से पेश आते थे। मजदूरों की कमी के कारण गन्ना-उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ने लगा। गन्नाउत्पादन को बरकरार रखने के लिए मजबूरन भारत से 22 नवम्बर, 1960 ई० को "टुरो" नामक जहाज से गिरमिटिया मजदूरों का आयात किया गया। इन मजदूरों के साथ भी वही व्यवहार किया गया जो अफ्रीकी गुलामों के साथ किया जाता था। इन लोगों को भी आरकाठियों ने लुभावने प्रलोभन देकर दक्षिण अफ्रीका ले गये थे। अँग्रेज भारतीय मजदूरों को बीमारियों का घर मानते थे इसलिए उनकी सबसे पहले डॉक्टरी जाँच होती थी। जहाज पर एक आदमी को मात्र छः फुट लम्बी एवं दो फुट चौड़ी जगह दी गई थी। पीने के लिए पानी नपा-तुला दिया जाता था। डॉक्टर महिला गिरमिटिया मजदूरों के साथ बदफेली करता था। मजदूरों के पहुँचने पर बैरक में रखा जाता था। कुलियों को अपने बिकने के इन्तजार में तीन-तीन महीना लग जाता था। कभी एक टाइम खाना मिलता तो कभी वह भी नसीब नहीं होता। खाने के नाम पर उबला हुआ मक्का दिया जाता था। कुली 'कुली लाइन्स' मे रहते थे। पेशाब पाखाना की अलग व्यवस्था न होने के कारण, पूरा घर बदबू से भरा रहता था। यदि कोई कुली बीमार पड़ता तो उसके खिलाफ कामचोरी एवं गिरमिट तोड़ने की रिपोर्ट दर्ज करवा दी जाती थी। कुली को कोर्ट सजा सुनाता था। अन्ततः जेल के कर्मचारियों के द्वारा किये गये पशुवत व्यवहार के कारण कैदी वहीं मर जाता था। 09152,3,N36,15:9(U,42) 1521 DISS

बागान मालिक भारतीय मजदूरों को बड़ा जरखेज समझते थे। यही कारण था कि कुलियों से भरा फ्यूजिलियर जहाज जब रेटन की खाड़ी मे डूब जाता है तो डच बागान मालिक कुलियों की लाश को निकलवा कर अपने गन्नों के खेतों मे दफनवा देता है और कहता है कि जीते हुए फसलों के लिए काम करते थे, अब मरकर भी वे कई गुना बढ़ा देंगे। जिनकी मेहनत इतनी चमत्कारी उनकी हडिडयाँ कैसी होंगी। दक्षिण अफ्रीका मे स्वर्गिक जीवन जीने गये भरतीय मजदूरों की यह दशा थी जो भारत से सोना खोदने की आकांक्षा लेकर गये थे। सोना खोदने की बात तो दूर रही भरपेट भोजन भी नसीब नहीं हुआ।

इसी बीच 24 मई सन् 1893 को मोहनदास दादा अब्दुल्ला एण्ड कंपनी के बुलाने पर एक साल के लिए 105 पौण्ड की पगार पर मुकदमा देखने के लिए दक्षिण अफ्रीका गये। मोहनदास ने वहीं पर उन भारतीयों की स्थिति भी देखी जो गिरमिट से छूट गये थे और उनकी भी जो व्यापारी थे। गोरी सरकार उनके रहन-सहन को देखकर बहुत नाराज होती थी। उनका खयाल था कि ये लोग सभ्य समाज में रहने लायक ही नहीं हैं।

मोहनदास को आश्चर्य तब हुआ जब उन्हें पता चला कि भारतीय मुसलमान अपने को अरब वाला बताते थे। क्योंकि पगड़ी पहनने की अनुमति केवल अरबवालों को ही थी। इसी कारण, कोर्ट रूम में जज ने मोहनदास को पगड़ी उतारने के लिए कहा लेकिन मोहनदास इसे सम्मान का प्रतीक मानकर कोर्ट से बाहर चले गये। उन्होंने

TH-9120

Jawaharlal Nehru University Library

इसका विरोध समाचार पत्र में एक मसौदे के द्वारा दर्ज कराया। यहीं से मोहन दास के अन्दर अन्याय के प्रति विरोध की भावना जागी। वहाँ सारे भारतीय अछूत थे उनके लिए स्टेशन से उतरने के लिए अलग रास्ता था जो कि गन्दगी से भरा पड़ा रहता था।

मोहनदास को दादा मि० अब्दुल्ला का मुकदमा देखने प्रिटोरिया जाना था। वहाँ उनका मुकदमा बेकर देखते थे, उन्हीं की सहायता करना था। प्रिटोरिया जाते समय मोहनदास फर्स्ट क्लास के डिब्बे में बैठे थे जिसके कारण गोरों ने उनको पीटरमेरिट्जवर्ग स्टेशन पर डिब्बे से घसीट कर बाहर ढकेल दिया था, क्योंकि फर्स्ट क्लास के डिब्बे मे केवल युरोपीयन ही चल सकते थे। इसका भी विरोध मोहनदास ने रेलवे के जनरल मैनेजर से किया, फिर उन्हें पीटर मेरिट्जवर्ग वर्ग से चार्ल्स टाउन तक फर्स्ट क्लास के डिब्बे में यात्रा करने की अनुमति मिल गयी। लेकिन इसके बाद जोहांसवर्ग तक की यात्रा स्टेटकोच के द्वारा ही करनी थी। पार्डीकोफ में स्टेटकोच में पायदान पर न बैठने के कारण मोहनदास की बग्घीलीडर ने बहुत पिटाई की, दूसरे दिन मोहनदास ने एजेण्ट को एक विरोध पत्र लिखा जिससे कोच में फर्स्ट क्लास में यात्रा करने की अनुमति प्राप्त हो गयी। यही नही ग्रैण्ड नेशनल होटल मे भी गोरा मैनेजर ने मोहनदास को ठहरने के लिए कमरा नहीं दिया। भारतीयों को गोरों के होटल में ठहरने की अनुमति नहीं थी। प्रिटोरिया में मि०.कोट्स ने उन्हें एक नानबाई के यहाँ पेइंगगेस्ट के रूप में रखवा दिया।

मोहनदास ने तैयब एवं दादा अब्दुल्ला का मुकदमा आपसी बातचीत के द्वारा हल कराया तथा व्यवसायियों एवं गिरमिटियों में एकता स्थापित करने की कोशिश किया गिरमिटियों को व्यवसायी लोग भी हेय दृष्टि से देखते थे। प्रिटोरिया में कोई भी भारतीय नौ बजे के बाद फुटपाथ पर नहीं चल सकता था। मोहनदास ने इस नियम का उल्लंघन किया। परिणामतः क्रूगर की महल के सामने सिपाहियों ने उन्हें बुरी तरह से पीटा। ट्रासवाल में नस्लवाद अपनी चरम सीमा पर था। जब भारतीय व्यवसायी ट्रांसवाल के जनरल से मिलने गये तो उन्हे यह कहकर लौटा दिया कि तुम लोग इस्माइल की औलाद हो इसीलिए ईसू की औलाद की गुलामी करना तुम्हारा फर्ज है। यही कारण था कि चालीस लाख अछूत हिन्दू ईसाई हो गये थे। गोरों के साथ कोई भारतीय होटल में भोजन नहीं कर सकता था इस दुष्प्रवृत्ति के शिकार मोहनदास भी हुये थे। डरबन में भी स्टेशन से बाहर आने के लिए गोरों एवं कालों के लिए अलग-अलग रास्ते थे। अँग्रेजों के अतिरिक्त जो भारतीय भी पढ़ लिख लिए थे, वे अपने को दूसरे भारतीयों से श्रेष्ठ समझते थे। भारतीयों को अफ्रीका से भगाने के लिए तरह-तरह के कानून बनाये जाते थे। इन्हीं में एक मताधिकार से वंचित करने का कानून भी था जो नेटाल की संसद में सन् 1894 में लाया गया था। उस कानून के द्वारा भारतीयों को मताधिकार से वंचित करने का इरादा था। उन्हे असभ्य एवं स्त्रियों को पीटने वाला बताया जाता था। लेकिन भारतीय मजदूरों एवं व्यवसायियों ने मोहनदास के नेतृव्व में इस विधेयक को अपने जन-बल के द्वारा रद्द कराने में सफलता प्राप्त की तथा भविष्य में जन-विरोधी नीतियों से लड़ने के लिए सन् 1894 में 'नेटाल काँग्रेस' नाम का संगठन भी बनाया। इसके अध्यक्ष दादा अब्दुल्ला हुए और अवैतनिक मंत्री मोहन दास । काँग्रेस के सदस्यों से चन्दा उसूलने के बहाने मोहनदास ने गिरमिटियों के रहन-सहन का निरीक्षण भी किया। बालसुन्दरम इन्हीं शोषित गिरमिटियों में से एक था। जिसे मोहनदास ने उसके मालिक के चंगुल से मुक्त कराया था बाल सुन्दरम के पहले भी गिरमिटिया अदालत में जाते थे लेकिन न्याय के बदले अपनी सारी लेई-पूँजी गँवाकर घर लौटते थे मालिक के हण्टरों एवं लोहे की सरियो से मार खाते थे। गोरे गिरमिटियों को गिरमिट कानून तोड़ने के लिए विवश करते थे वे उन्हें देश से भगाना चाहते थे इसीलिए प्रत्येक भारतीय के ऊपर 24 पौण्ड वार्षिक पोल टैक्स लगाने का विचार किया। अन्ततः तीन पौण्ड पौल टैक्स की मंजूरी के साथ इस कानून को लागू कर दिया गया।

गिरमिट से छूटे व्यक्ति छोटे-मोटे रोजगार करते थे लेकिन उन्हें भी पुलिस मारती-पीटती तथा जेल में बंद कर देती थी। पढ़े-लिखे लोगों के साथ भी पुलिस उसी तरह पेश आती थी जिस तरह गिरमिटियों और व्यापारियों के साथ। नेटाल काँग्रेस पर तरह-तरह के आरोप लगाये जाते थे कभी अखबार वाले उसे राजनीतिक संगठन कह कर घोषित करते थे तो कभी सरकार के खिलाफ भड़काने वाला गिरमिटियों का षडयंत्रकारी दल। इसी तरह मोहनदास को भी सरकार विरोधी घोषित किया जाता था। मोहनदास गिरमिटियों की दशा देखकर ही 'इंडेंचर्ड लॉ' का अध्ययन किया। अन्ततः उन्होंने पाया कि 'इंडेंचर्ड लॉ' लॉ से ज्यादा कसाईखाना है क्योंकि इसी के कारण कोई गिरमिटिया अपने मालिकों के अत्याचार के खिलाफ कहीं जा नही सकता था। 'इंडेंचर्ड लॉ' की धारा एक सौ सात के अन्तर्गत लिखा था कि यदि कोई गिरमिटिया अपने मालिक की शिकायत दर्ज कराने के लिए गैरहाजिर होता है तो उस पर मुकादमा चलाया जा सकता है और दो पौण्ड जुर्माना भी या दो महीने की जेल। एक वर्ष में पचीस दिन की गैर हाजिरी पर 50 दिन का गिरमिट बढ़ जाता था। इसके अलावा मालिक खुद कानून बनाते थे वे औरतों से ज्यादा काम कराते थे आपत्ति करने पर चोरी का इल्जाम लगाकर पैसा काट लेते थे। इससे भी घृणित काम था सौ मर्दों पर चालीस स्त्रियों को रखना। इन औरतों को 'कुली मेयरीज' कहा जाता था।

इस प्रकार मोहन दास ने पाया कि 1880 ई० में 1080 लोगों ने मालिकों के अत्याचार से आत्महत्या कर लिया था। इन्हीं पाशविक व्यवहारों को देखकर ही मोहनदास का मन व्यथित हुआ था। उन्होंने मन ही मन इन पाशविकताओं के खिलाफ सत्याग्रह करने का प्रण किया मोहनदास तीन पौण्डिया टैक्स के खिलाफ भारत में माहौल तैयार करने के लिए 22 जून, सन् 1826 को भारत लौट आये। गिरमिटियों के दुःख दर्द को व्यक्त करने के लिए मोहनदास ने दो माध्यमों का सहारा लिया। पहला, अखबारों में लेख लिखकर तथा पम्फलेट बाँटकर दूसरा, सभाओं गोष्ठियों और व्यक्तिगत संपर्कों का। अखबारों के द्वारा 'भारतीयों के नाम उन्हें गुहार' नामक शीर्षक से चार लेख प्रकाशित करवाया तथा सभाओं, गोष्ठियों और व्यक्तिगत संपको के द्वारा भारतीय नेताओं को दक्षिण अफ्रीका में रह रहे भारतीयों की स्थिति से अवगत कराया।

जब मोहनदास भारत में घूम-घूमकर लोगों को गिरमिटियों की समस्याओं के बारे में बता रहे थे उसी समय दक्षिण अफ्रीका में कुछ अँग्रेज मोहनदास के बारे में दुष्प्रचार कर रहे थे कि मोहनदास भारत से हर प्रकार के टेकनीशियन दक्षिण अफ्रीका ला रहा है जिससे यूरोपियन लोगों की रोजी -रोटी खतरे में पड़ जायेगी इसके अलावा वह गोरों को भारतीयों के उत्पीड़क के रूप मे प्रचारित कर रहा है। इन्हीं सब बातों को लेकर यूरोपियनों ने जहाज से उतरते ही मोहनदास की बुरी तरह से पिटाई की ।

सन् 1899 में अँग्रेजों एवं बोअरों में युद्व छिड़ गया। मोहन दास गिरमिटियों को लेकर अँग्रेजों की तरफ से युद्ध में शामिल हुए। इस युद्ध में एक भारतीय गिरमिटिया मजदूर प्रभुसिंह ने महत्वपुर्ण भूमिका निभाई जिससे अनेक सिपाही मरने से बच गये। लेकिन गिरमिटिया होने के नाते उसको उतना सम्मान नही दिया गया जितना एक बहादुर सैनिक को मिलना चाहिए।

युद्ध समाप्त होने के बाद मोहनदास सन् 1900 ई० में फिर कस्तूरबा और बच्चों के साथ भारत लौट आए। इसी समय कांग्रेस का कलकत्ता में राष्ट्रीय सम्मेलन था। मोहनदास ने इस सम्मेलन में गिरमिटियों की समस्याओं को जनता के सामने रखा और साथ ही साथ लोगों से मिलकर दक्षिण अफ्रीका के मजदूरों की हालत के बारे में चर्चा भी की। चेम्बरलेन के आने का समाचार सुनकर मोहनदास फिर दक्षिण अफ्रीका पहुँचे लेकिन उनसे कोई सकारात्मक उत्तर न पाकर ट्रॉसवाल में ही रहकर सत्याग्रह शुरू करने का मन बनाया। वहाँ भारतीय मजदूरों को कुली लोकेशन में रखा जाता था। कुली लोकेशन को गोरे गन्दगी का पर्याय मानते थे। उनको शहर के बाहर ही रखा जाता था। शहर के पास की कुली लोकेशन को जलाकर उनको शहर से दूर रहने के लिए मजबूर किया

गया। इन सभी समस्याओं की 'इण्डियन ओपिनियन' बड़े विस्तृत ढँग से प्रकाशित करता था। मोहनदास को रस्किन की पुस्तक 'Unto this last' और ट्रेपिस्टों के साथ-साथ रहने तथा समानता की जीवन-पद्धति ने बहुत प्रभावित किया। उन्होंने इस जीवन पद्धति को फीनिक्स आश्रम बना कर व्यवहार रूप में परिणत करने की कोशिश की। वहीं से 'इण्डियन आपिनियन' का प्रकाशन भी करते जिसमें भारतीयों के दुख-दर्द को व्यक्त किया जाता था। अँग्रेजों की रंगभेद एवं शोषण की नीति केवल भारतीयों के साथ ही नही लागू होती थी बल्कि वतनियों के साथ भी उसी कड़ाई से लागू की जाती थी। सन् 1906 को जुलुओं ने एक कर-वसूल अँग्रेज अधिकारी को मार डाला। इस घटना को जुलू-विद्रोह का नाम देकर उनके साथ बड़ी हैवानियत के साथ पेश आया गया था। जुलू सिपाहियों को सौ-सौ कोड़े मारे गये थे क्योंकि उन्होने अपने साथियों पर गोली चलाने से इंकार कर दिया था। जुलुओं की बस्तियों को जलाया गया था। इसी बर्बरता को देखकर मोहनदास एक ऐसे शक्तिशाली शस्त्र का निर्माण करना चाहते थे जो ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दे सके, भारतीय मजदूरों को लड़ने की शाक्ति दे सके और भय का विनाश कर सके।

सन् 1906 को ट्रॉसवाल सरकार ने एक अध्यादेश जारी किया कि जो भारतीय ट्रॉसवाल में बसना चाहते हैं उन्हें एशियाटिक रजिस्ट्रार कार्यालय से रजिस्ट्रेशन कराना अनिवार्य है। जो निर्धारित समय में रजिस्ट्रेशन नही करायेगा उसकी नागरिकता निरस्त कर देश निकाला की सजा दे दी जायेगी। भारतीयों ने इस काले कानून का विरोध करने का निश्चय किया। मोहनदास के नेतृत्व में भारतीयों का एक प्रतिनिधि मंडल उपनिवेश मंत्री डंकन से मिला। लेकिन उनसे कोई सहायता न मिलने के कारण भारतीयों ने अपनी लड़ाई 'सत्याग्रह' के द्वारा लड़ने का निश्चय किया। सत्याग्रह का मतलब असहमत होते हुए भी प्रतिरोध का सम्मान। जिसे मोहनदास ने प्रारम्भ में 'पैसिव रेसिस्टेन्स' का नाम दिया था यह विचार एवं अस्मिता के संकट का शस्त्र था। इसमें देह बल वर्जित तथा सहिष्णुता की चरम परीक्षा थी। मोहनदास एवं अली इस कानून को रद्द कराने के लिए लंदन गये। वहाँ संसद सदस्यों एवं महत्वपूर्ण व्यक्तियों से मिलकर कानून को रदद कराने का आग्रह किया आखिर में ब्रिटिश सरकार ने एशियाटिक कानून को रद्द कर दिया लेकिन इसके तुरंत बाद ही दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने एशियाटिक कानून के स्थान पर 'एशियाटिक इमिग्रेशन रजिस्ट्रेशन बिल' एवं 'इमिग्रेशन रेस्ट्रिक्शन बिल' - "नामक कानून संसद में प्रतावित कर दिया। भारतीयों ने सत्याग्रह के द्वारा इस कानून का विरोध करने का निश्चय किया। प्रत्येक सत्याग्रही के लिए परस्पर विश्वास, आत्मानुशासन, समता एवं एकता की भावना आवश्यक थी।

एशियाटिक कानून के तहत 1907 ई. में सारे ट्रॉसवाल में परमिट दफ्तर खोले गये। जो व्यक्ति परमिट बनवाने जाता उसे सत्याग्रही रोकते । यदि वे नहीं मानते तो उनकी सहायता भी करते। जो रजिस्ट्रेशन करवाता उसे अपने समाज में ही लोग हेय दृष्टि से देखते और व्यवसायी लोग उन्हें माल देने से इन्कार कर देते थे। सत्याग्रहियों के आन्दोलन से परेशान होकर सरकार ने सत्याग्रही नेताओं को गिरफ्तार करा लिया। सभी को तीन-तीन महीने की सजा दी गयी। सत्याग्रहियों को जेल में तरह-तरह की यातनाएँ दी जाती थीं। मोहनदास को एक ऐसे वार्ड में बन्द कर दिया गया जिसमें जुलू एवं चीनी कैदी रहते थे बार्ड बुरी तरह बदबू दे रहा था। सत्याग्रहियों में खोमचे वाले, फेरी वाले और गिरमिट से छूटे लोगों की तादात ज्यादा थी।

आन्दोलन की गतिशीलता को देखकर जनरल स्मट्स मोहनदास से छलपूर्वक मौखिक समझौता करता है कि यदि भारतीय अपनी इच्छा से रजिस्ट्रेशन कराने को तैयार हो जायेंगे तो एशियाटिक कानून वापस ले लिया जायेगा। बाद में स्मट्स समझौते से मुकर गया।

मोहनदास को इस समझौते की वजह से बुरी तरह से अपने लोगों से ही मार खानी पड़ी। गोरे लोगों ने जनता में झूठा प्रचार करना शुरू कर दिया था कि मोहनदास ने पंद्रह हजार पौण्ड पर समझौता कर आन्दोलन

वापस ले लिया है। दूसरा कारण, लोग उंगलियों की छाप देना जरायम-पेशा मानते थे इसी कारण मोहन दास की एक भारतीय ने पिटाई भी की।

सरकार की वादा खिलाफी के विरोध में भारतीयों ने फिर से सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया। सत्याग्रहियों को तरह-तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता। उनकी संपत्ति जब्त कर ली जाती थी लेकिन वे अँग्रेजों की शर्तों को मानने से इंकार कर देते। 16 अगस्त, सन् 1908 को सत्याग्रहियों ने रजिस्ट्रेशन सर्टीफिकेट की होली जलायी। ट्रॅंसवाल इमिग्रेशन का रेस्ट्रिक्शन उल्लंघन करने पर जुर्माना, जेल और जलावतनी की सजा दी जाती थी। इस कानून का सत्याग्रहियों ने उल्लंघन किया। अदालत जुर्माना जेल और जलावतनी की सजा देती लेकिन फिर भी सत्याग्रहियों ने जेल भरो आन्दोलन जारी रखा। सरकार सत्याग्रहियों के ऊपर तरह-तरह के जुल्म ढा रही थी । सत्याग्रह कभी ठण्डा कभी तेज हो जाता था। सत्याग्रहियों को जेल भेजा जा रहा था और देश निकाला दिया जा रहा था। सरकार अपने अधिकारों का अतिक्रमण कर रही थी। इस अत्याचार के खिलाफ भारतीयों का एक प्रतिनिधि मण्डल मोहनदास के साथ लंदन गया। लेकिन वहाँ से यह कह कर वापस लौटा दिया गया कि रंगभेद हमारी नीति का हिस्सा है।

सन् 1909 में लंदन से लौटते समय रास्ते में मोहन दास ने 'स्वराज्य' पर विचार किया जिसका मूर्त रूप 'हिन्द स्वराज' है। जिसमें 'स्वराज' के लिए सत्याग्रह, आत्म बल एवं दया बल की आवश्यकता पर बल दिया गया। सभ्यता को एक प्रकार का रोग बताया गया है। उस समय तक 25000 हिन्दुस्तानी जेल जा चुके थे। कैदियों को मलमूत्र ढोने के लिए विवश किया जाता था उनकी धार्मिक भावना को आहत किया जाता था। तनिक विरोध करने पर काल कोठरी मे डाल दिया जाता था। सत्याग्रहियों के लिए महिलाएँ अपनी जेवर उतार के दे देती थीं। सजा काटकर आने वाले सत्याग्रहियों को 'साहू' लोग काम देने से हिचकते थे। इसलिए उनकी मदद के लिए 'टालस्टाय फार्म' की स्थापना की गयी। सभी लोग साथ-साथ काम करने तथा साथ-साथ खाना खाते थे। अब मोहनदास की प्रैक्टिस लगभग छूट चुकी थी। गिरमिटियों की समस्याओं के बारे में प्रो० गोखले सरकार से बात करने दक्षिण अफ्रीका गये। जनरल स्मट्स ने भारतीयों के विरूद्ध सारे कानून को वापस लेने का वादा किया लेकिन उसने फिर वादा खिलाफी किया। अब मोहनदास टालस्टाय फार्म कैलेन बैक को वापस कर 'फीनिक्स' आ गये तथा गिरमिटियों को इकट्ठा करके सत्याग्रह को तेज करने की कोशिश मे लग गये।

रंगभेद की नीति को सुप्रीम कोर्ट ने और बढ़ावा दिया, उसने एक कानून पास किया था कि जो विवाह रजिस्ट्रार के यहाँ दर्ज नहीं हुआ है उसे गैर कानूनी माना जाय। इस कानून के द्वारा बच्चों को अवैध एवं पत्नियों को रखैल घोषित कर दिया जाता था। इस कानून के विरोध में अब महिलाएँ भी सत्याग्रहियों के साथ जुड़ गयीं। कस्तूरबा सहित अनेक महिलाएँ गिरफ्तार कर ली गयीं। कुछ महिलाओं ने न्युकैसल्स के मजदूरों को सरकार की वादा खिलाफी के बारे मे बताया। मिल मजदूर अपनी-अपनी मिलों में हड़ताल करके सत्याग्रह आन्दोलन में शामिल हो गये। मोहनदास हड़ताली सेना को लेकर ट्रॅंसवाल पहुँचे

सन् 1911 को पामफोर्ड में मोहनदास को गिरफ्तार कर लिया गया। अदालत ने 50 पौण्ड का जुर्माना किया, जुर्माना अदाकर मोहनदास सत्याग्रहियों की सेना में शामिल हो गये। फिर मोहनदास समेत कैलेन वेक एवं पोलक को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया और सत्याग्रहियों को गाड़ी मे भर कर प्रिटोरिया भेज दिया गया वहाँ उन्हे मुजरिम करार देकर अस्थायी जेल में डाल दिया गया। सत्याग्रहियों को खान मालिकों के हवाले कर दिया गया। वे उनके ऊपर डण्डा चलाते और ज्यादा से ज्यादा काम लेते। मिल मालिकों से परेशान होकर सत्याग्रहियों ने काम करना बंद कर दिया। अब उनके ऊपर चाबुक बरसाये जाने लगे, मुँह में मिट्टी भर दी जाती, एक दूसरे के साथ बदफेली करने के लिए मजबूर किये जाते। पुलिस जबरदस्ती काम पर जाने को कहती, मजदूर लेट जाते

सिपाही ठोकर मारते वे कराहते लहूलुहान हो जाते। सत्याग्रहियों पर घोड़े दौड़ाये जाते थे, गोलियाँ चलायी जाती थीं, इसकी निंदा पूरे विश्व में हुई। जनरल स्मट्स दबाव में आकर विलियम सेलोमन की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया। आयोग ने मोहन दास कैलेनवैक एवं पोलक को छोड़ने की संस्तुति की तथा तीन पौण्डिया टैक्स की आलोचना की। भारतीय विवाह पद्धति का समर्थन किया साथ ही साथ एक साला प्रमाण-पत्र की जगह तीन साला प्रमाण-पत्र जारी करने की सिफारिश भी की। मोहनदास के नेतृत्व में ही भारतीय मजदूर अपने संघर्षो को मूर्त रूप दे सके। इक्कीस वर्षों के कड़े संघर्षों के बाद मोहनदास अब भारत में भी सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ करने का मन बनाया।

इसी कारण 18 जुलाई, सन् 1914 ई० को दक्षिण अफ्रीका से लंदन के लिए रवाना हुए। वहाँ गोखले के साथ रहकर भारतीय राजनीति का अध्ययन किया।

पहला गिरमिटिया का स्वरूप

किसी भी रचना का स्वरूप उसके कथ्य पर हो निर्धारित करता है। कथ्य ही रचना के स्वरूप का निर्णायक होता है। यह इतिहस सत्य घटना है कि सन् 1834 ई० से 1923 ई० तक भारतीय मजदूर ब्रिटिश उपनिवेशों को भेजे गये थे। गिरिराज किशोर ने इस ऐतिहासिक घटना को अपने उपन्यास का केन्द्र बनाया। यह एक सराहनीय काम है। लेकिन जैसा कहा जाता है कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। क्योंकि पाठक घटनाओं तिथियों एवं पात्रों को लेकर काफी मीनमेख निकालते हैं। इन चुनौतियों से गिरिराज किशोर भी टकराते हैं। उन्हीं के शब्दो में - "जैसा कि अक्सर ऐतिहासिक उपन्यासों को लेकर सवाल उठता है कि साठ प्रतिशत जब इतिहास है तो चालीस प्रतिशत अपना जोड़कर लेखक क्या तीर मार लेता है ? हालाँकि यह उपन्यास जिन्दगी ज्यादा है इतिहास कम"[1] अर्थात् मानवीय मूल्यों की प्रधानता और ऐतिहासिक तथ्यों की गौणता। इसी कारण उपन्यास का संबंध यथार्थवाद से जोड़ा जाता है। उपन्यासकार का पहला कर्तव्य होता है- वास्तविक जगत की परिस्थितियों एवं घटनाओं का वस्तुगत रूप में चित्रण करना। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है - "जन्म से ही उपन्यास यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख रहा है। पुरानी कथा आख्यायिका से वह इसी बात में भिन्न है । वे (यानी पुरानी कथा- आख्यायिकाएँ) जीवन के खटकने वाले यथार्थ के संघर्षों से बच कर स्वप्नलोक की मादक कल्पनाओं से मानव को उलझाने बहकाने और फुसलाने का प्रयत्न करती थी, जबकि उपन्यास जीवन की यथार्थताओं से रस खींचकर चित्त-विनोदन के साथ ही साथ मनुष्य की समस्याओं के सम्मुखीन होने का आह्वान लेकर साहित्य क्षेत्र में आया था। उसके पैर ठोस धरती पर जमें हैं और यथार्थ जीवन की कठिनाइयों और संघर्षो से छनकर आने वाला। 'अव्याज मनोहर' मानवीय रस ही उसका प्रधान आकर्षण है।"[2] उपन्यास चित्त-विनोदन के साथ ही साथ मनुष्य की समस्याओं का सजीव चित्रण करता है। पाठक का चित्त स्थिर करने के लिए उपन्यासकार उपन्यास को अपनी कल्पना के द्वारा मनोग्रही बनाता है। जिससे पाठक ऊब महसूस नहीं करता। गिरिराज किशोर ने भी गिरिमिटियों की समस्याओं का चित्रण करते हुए बीच-बीच में ऐसे कल्पनात्मक अंश को उपन्यास में जोड़ दिया है कि पाठक महसूस भी नही कर पाता कि उपन्यास का फला अंश कल्पित है। उपन्यासकार कल्पना द्वारा ही ऐसे मार्मिक स्थलों और घटनाओं का चित्रण करने में सफल होता है। उपन्यास के बारे में प्रेमचन्द का कथन - "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"[3] समीचीन लगता है। इसी संदर्भ में ही उपन्यास को महाकाव्य का दर्जा मिला है।

उपन्यास का सृजन पात्रों, कल्पना और संकल्प०से निर्मित होता है। उसके पीछे भविष्य का एक सपना काम कर रहा होता है। एक ऐसे सार्थक समय के निर्माण का स्वप्न जो बीते हुए वक्त की कमियों को दूर करके आदर्श होने की दिशा में प्रयासरत रहता है। यह संकल्प ऐतिहासिक उपन्यासों पर भी लागू होता है। कथा और इतिहास की प्रकृति एक दूसरे से इतने सन्निकट हैं कि दोनों का एक दूसरे में अन्तर्भुक्त हो जाना स्वाभाविक है। पहला गिरमिटिया में लेखक ने इतिहास और कल्पना का मिश्रण इस ढंग से किया है कि पाठक इतिहास और कल्पना में अन्तर ही नही कर पाता है। उदाहरणार्थ, जब मोहनदास को गोरे डिब्बे से बाहर पीटर मेरिट्जवर्ग स्टेशन पर फेंक देते हैं। तो मोहनदास अपमान के इस क्षण पर इस प्रकार सोचता है- "आगे उसे क्या करना होगा? यह सवाल रूकी हुई घड़ी की सुई की तरह उसके दिमाग में टिका था।"[4]

पहला गिरमिटिया : इतिहास और उपन्यास

प्रत्येक उपन्यासकार इतिहास का उपयोग अपने आधार पर करता है इसीलिए उनकी रचनाओं में इतिहास के उपयोग का कोई एक रूप देखने को नही मिलता बल्कि उनमें परस्पर वैषम्य है। जैसे उजाले की परछाइयाँ और पहला गिरमिया । तब सवाल उठता है कि इतिहास क्या है? इसका अर्थ-ऐसा ही हुआ था या ऐसा ही होता है। प्रसिद्व इतिहासकार ई०. एच०. कार के अनुसार, "इतिहास के तथ्य मछुआरे की पट्टी पर पड़ी मरी मछलियाँ नहीं हैं। वे जीवित मछलियों की तरह हैं जो एक विशाल तथा अगाध समुद्र मे तैर रही हैं। इतिहासकार के हाथ में कौन-कौन-सी मछलियाँ आएँगी ये कुछ तो संयोग पर निर्भर करता है, मगर मुख्यतः इस बात पर निर्भर करता है कि वह समुद्र के किस हिस्से में मछली मारने का इरादा रखता है और किस ढंग से काँटो का इस्तेमाल करता है। कुल मिलाकर इतिहासकार जिस प्रकार तथ्यों की खोज कर रहा है, उसी प्रकार तथ्यों को पायेगा।"[5] इतिहासकार भी कल्पना का सहारा लेता है। इतिहास मे तथ्यों की सत्यता और प्रामाणिकता पर बल रहता है। जबकि उपन्यास में यथार्थ-चित्रण, कल्पना तथा लेखकीय संवेदना का। अतः ऐतिहासिक उपन्यासकार तथ्यों का चित्रण कल्पना एवं लेखकीय संवेदना के द्वारा करता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में इतिहास और कथा में कोई ऐसा मौलिक भेद नहीं मिलता जिससे दोनों का सीमा रेखा निर्धारित की जा सके। कौटिल्य ने स्पष्ट कहा है- "पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सब इतिहास है।"[6] कौटिल्य ने अपनी पुस्तक का नाम भी 'अर्थशास्त्र' रखा था जिसका विषय राजनीति ही था। भारतीय विद्वान अलग से इतिहास नहीं लिखते थे बल्कि इतिहास भूगोल अर्थशास्त्र और आख्यान एक ही में समाहित रहता था। इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों एवं इतिहासकारों का यह कहना कि भारतीयों के अन्दर ऐतिहासिक विवेक था ही नहीं भ्रामक अवधारणा है। कथा और इतिहास का यह भेद विज्ञान युग की देन है। आधुनिक विज्ञान ने जैसे हमारे ज्ञान, सोचने-समझने की प्रणालियों और कार्य की विविध दशाओं को प्रभावित किया है वैसे ही इतिहास और कथा को भी। जब विद्वानों ने इतिहास को आख्यान पुराण और किंवदतियों से मुक्त कर विशुद्ध तथ्यों का भंडार बना दिया तब इतिहास की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं जिन्हें हम इतिहास-दर्शन के नाम से जानते हैं। फलस्वरूप तथ्यों की व्याख्या इन दर्शनों के आलोक में होने लगी इसीलिए जी०.क्लार्क कहता है- "तथ्य पवित्र हैं मंतव्यो पर कोई बंधन नही है।"[7]

जब अतीत के तथ्यों की व्याख्या दृष्टियों के आधार पर होने लगी तब ऐतिहासिक उपन्यास का सूत्रपात हुआ। ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास और कथा की इस पुरातन समीपता की नूतन समन्वयात्मक अभिव्यक्ति है जब इतिहास विशुद्ध तथ्यात्मक बना तो रसात्मक साहित्य से दूर हटा किन्तु उसने संस्कृतियों, सभ्यताओं और समाज

के विकास पर दृष्टि-पात आरम्भ किया तो भावनाओं के क्षेत्र में उसने व्यापक रूप से प्रवेश किया और ऐतिहासिक उपन्यासकार की रचना का केन्द्र बना। किसी भी उपन्यास का प्रधान लक्ष्य जीवन की विविध मानवीय संवेदनाओं का विस्तार भावनाओं और विचारों, हृदय और मस्तिष्क के बीच एक नवीन सामंजस्य स्थापित करना तथा जीवन के चिरंतन सत्य का उद्‌घाटन करना। इस उद्‌देश्य को पूरा करने के लिये उपन्यास कल्पना का सहारा लेता है। इतिहास में कल्पना पूर्णतः उन्मुक्त होकर पतंग की भाँति नियंत्रित रहती है और तथ्य समर्थित होकर ही क्रियाशील हो पाते हैं।

इतिहास मात्र घटना-संयोजन और महापुरूषों की वीरगाथा न होकर चिरंतन मानवीय प्रकृति के संतुलन में विगत सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के सत्यों की खोज एवं सारे राग-विरागों के साथ अतीत का यथार्थ है और उपन्यास स्वभावतः यथार्थ को पकड़ता है। चाहे अतीत का यथार्थ हो या वर्तमान का। क्या हुआ ? इसका उत्तर तथ्यों से पाया जा सकता है लेकिन क्यों हुआ ? इसका उत्तर पाने के लिए इतिहासकार को विविध घटनाओं का पूर्वापर संबंध स्थापित करते हुए उन्हें एक सूत्र में परिकल्पित करना पड़ता है। यह प्रक्रिया कल्पना द्वारा संचालित होकर ही क्रियाशील होती है और यहीं पर इतिहासकार उपन्यासकार के निकट आ जाता है।

उपन्यास एवं इतिहास में उद्‌देश्य के आधार पर कोई विशेष अन्तर नहीं हैं। आज उपन्यास का उद्‌देश्य मनोरंजन और कल्पना का विलास मात्र न होकर मानव जीवन के सूक्ष्म गंभीर और शाश्वत सत्यों की खोज ही है। किन्तु उपन्यास और इतिहास के मार्गों ओर मायार्दाओं में पर्याप्त अन्तर है तथा दोनों की दिशाएँ एक दूसरे से पृथक हैं। डा. गोविन्द जी प्रसाद के अनुसार, "इतिहास सत्य का अन्वेषण करते हुए भी प्रकृति के तथ्योन्मुख एवं तथ्यापेक्षी होता है। उसका आग्रह तथ्य पर अधिक रहता है और उसके लिए वह सब प्रकार के प्रमाणों (प्रामाणिक ग्रंथों, शिला/लेखों, ताम्रपट्टों, मुद्राओं, प्राचीन पत्रों आदि) का संग्रह करता है।...इतिहास के वास्तविक रूप को उपस्थित करने तथा उसे धारावाहिक बनाने के लिए इतिहास लेखक को कल्पना एवं अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। यहीं से वह साहित्यकार के निकट आने लगता है। किन्तु उसकी इस कल्पना का संबंध तथ्य से इतने निकट का होता है कि उनमें अन्तर आसानी से नहीं किया जा सकता। घटनाओं एवं तथ्यों का यथावत् वर्णन एवं उनको विकास के एक सूत्र में बाँधना ही कल्पना का मुख्य कार्य होता है। इसके विपरीत उपन्यास मानवीय सत्य की सरस उपलब्धि है। और स्थापना में तथ्यों की उपेक्षा भी कर सकता है। तथ्य उसके लिए बंधन नहीं बनते, उपकरण अवश्य हो सकते हैं। नवीन तथ्यों के ज्ञात होने से कालान्तर में इतिहास असत्य हो सकता है किंतु उपन्यास यदि वह वास्तव में शक्तिशाली एवं प्राणवान रचना बन सका है तो कला की दृष्टि से कभी भी महत्वहीन एवं असत्य नही बन सकता, भले ही ऐतिहासिक तथ्यों में कुछ अंतर आ जाय।... जहाँ इतिहास का संबंध राष्ट्र के उत्थान-पतन से विशेष रूप से रहता है वहाँ उपन्यास विविध पात्रों के चरित्र पर केन्द्रित मुख्यतया व्यक्तिपरक होता है। इतिहास के लिए बाह्य घटनाओं का महत्व अधिक होता है और उसी के आलोक में पात्रों का विश्लेषण करता है।"[8]

इस तरह जहाँ इतिहास का क्षेत्र बाह्य घटनाओं के विश्लेषण तक ही सीमित है। वहीं उपन्यास का संबंध बाह्य और आन्तरिक दोनों क्षेत्रों से है। अर्थात् उपन्यास चिरंतन मानवीय प्रकृति एवं उसकी समग्र नियति का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इतिहास प्रेमनिरपेक्ष प्रायः भाव से तथ्यों का अनुशीलन करते हुए अतीत के विविध व्यक्तियों में स्वतन्त्र रूप से व्यक्त मानवीय चेतना की प्रगति, ह्रास और विकास का अनुशीलन करता है जबकि उपन्यास केन्द्रीभूत मानवीय संवेदना का ही अनेकमुखी विस्तार होता है। एक विश्लेषणमूलक होता है तो दूसरा संश्लेषण-मूलक इतिहास वास्तविक साक्षीभूत घटनाओं पर आधारित होता है। जबकि उपन्यास वास्तविक साक्षी भूत घटनाओं की प्रभावन्विति को बढ़ा घटा सकता है उसके लिए जीवन दृष्टि महत्वपूर्ण होती है। न कि थोथा तथ्य।

इसी कारण से उपन्यासकार स्रष्टा का विधायक होता है। उपन्यास तथा इतिहास के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उपन्यासकार जैनेन्द्र का मत है - "इतिहास का अपना मूल्य है। वह विश्व की प्रगति का नक्शा हमारे सामने रखता जाता है। उपन्यास नए अजीब ही ढंग से रंगे और उपादेय जीवन का चित्र हमारे सामने रखता जाता है। जीवन के साधारण से साधारण कृत्य और गुत्थियों को सुलझाकर और खोलकर रख देता है। उपन्यास इस तरह सत्य में स्वप्न का पुट देकर, वास्तव में कल्पना मिलाकर, व्यवहार में आदर्श का सामन्जस्य स्थापित कर और वर्तमान पर भविष्य का रंग चढ़ाकर जीवन का वह रूप पेश करता है जो जीवन से मिलता जुलता है, फिर भी अनोखा है।"[9] इस प्रकार इतिहासकार और उपन्यासकार अपनी कार्य-प्रणालियों के कारण एक दूसरे से अलग दिखते हैं। इतिहासकार तथ्यों और घटनाओं को एक वैज्ञानिक की दृष्टि से जाँच करता है। तत्पश्चात इनको संग्रथित करने के लिए उसे कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। लेकिन यह कल्पना घटनाओं की सीमा में बँधी रहती है। उपन्यासकार तथ्यों एवं घटनाओं की जाँच ही नहीं करता बल्कि आवश्यकतानुसार उनकी सृष्टि भी करता है। वह द्रष्टा और स्रष्टा दोनों होता है। उसकी अभिरूचि घटना विशेष में न होकर मानव मात्र के संपूर्ण इतिहास, उसकी समग्र नियति में होती है। इसलिए वह एक घटना के आलोक मे अनेक घटनाओं के रहस्य को देखता है। किन्तु इतिहास की अभिरूचि घटना-विशेष तक ही सीमित रहती है, व्यक्ति-विशेष के आचरणों से बँधी रहती है। इतिहासकार सत्य को अतीत की घटनाओं के आलोक में खोजता है। उपन्यासकार उसे मानव-प्रकृति के आलोक में दूढ़ता है। इतिहासकार की दृष्टि केवल अतीत की ओर रहती है लेकिन उपन्यासकार अतीत की ओर द्रष्टि डालकर केवल अतीत का चित्र ही नहीं खड़ा करता बल्कि वर्तमान के स्वप्नों और समस्याओं को भी प्रकारान्तर से घुला-मिला देता है और भविष्य के लिए संदेश-वाहक भी बन जाता है।

इस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास अतीत के यर्थाथ का पुनर्सृजन है। डॉ. देवीशंकर अवस्थी के अनुसार- "इतिहास सारे राग-विरागों के साथ अतीत का यथार्थ है और उपन्यासकार सदैव यथार्थ को पकड़ता है, चाहे वह अतीत का हो या वर्तमान का। अतः इतिहास के क्षेत्र मे जाना किसी मर्यादा का उल्लंघन नहीं है।"[10] ऐतिहासिक उपन्यासकार की दिशा दृष्टि यथार्थपरक एवं सृजनात्मक होती है। डॉ. जगदीश गुप्त के अनुसार- "भारतीय साहित्य मे ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रणयन राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतंत्र्य-संग्राम के समानांतर हुआ।"[11]

स्वतन्त्र्योत्तर भारत मे स्वतन्त्रता पूर्व कल्पित स्वप्नों आदर्शों और मानवीय मूल्यों को टूटता हुआ देखकर एक संवेदनशील व्यक्ति का व्यथित होना लाजिमी था। वर्तमान से मोह-भंग की स्थिति ही लेखकों और संवेदनशील व्यक्तियों को अतीत में जाने के लिए मजबूर करती है। लेखक अपनी प्रतिभा एवं कला-कौशल के माध्यम से अतीत की उन घटनाओं एवं चरित्रों को अपने उपन्यास का उपजीव्य बनाता है जो वर्तमान परिस्थितियों ह्रासशील मूल्यों के लिए चुनौती बन सके। यही कारण है कि उपन्यासकार ऐतिहासिक जीवन एवं समाज को उसकी सम्पूर्ण-परम्परा, आचार-विचार, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण-में लेखकीय संवेदना के द्वारा प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार ऐतिहासिक सामग्री का चयन करने के बाद उसे अपनी संप्रेषण -शक्ति और कल्पना का पुट देकर रसास्वादन के योग्य बनाता है। कलात्मक-शक्ति के द्वारा ऐतिहासिक उपन्यासकार नीरस से नीरस घटना को रसाग्रही बना देता है। वह अतीत की संपूर्ण सामग्री को रसाग्रही ही नहीं बनाता बल्कि अतीत को जीवन्त कर वर्तमान में ला खड़ा करता है। अतः ऐतिहासिक उपन्यासकार का उद्देश्य अतीत की सामग्री को संवेदना युक्त कर, प्रेम और बंधुत्व की भावना का प्रसार करना तथा ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में मानव की एक जीवन गाथा प्रस्तुत करना है।

गिरिराज किशोर ने भी 'पहला गिरमिटिया' के माध्यम से दक्षिण अफ्रीका के गिरमिटिया मजदूरों के जीवन-संघर्षों को अपने कला-कौशल और संवेदनात्मक अनुभूति के द्वारा ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में प्रस्तुत

करने की कोशिश की है। उपन्यास का बुनियादी ढाँचा गाँधी की आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' और 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास से निर्मित किया गया है उपन्यासकार ने घटनाओं पर औपन्यासिक आवरण चढ़ाकर उपन्यास को सुपाठ्य बनाया है। गिरिराज किशोर के अनुसार ही साठ प्रतिशत इतिहास और चालीस प्रतिशत जिंदगी का अनुपात उपन्यास के केन्द्रीय संप्रेषण में कायम ही रह गया। अर्थात लेखक ने संवेदनात्मक तूलिका से ऐतिहासिक घटनाओं मे रंग भर कर ऐतिहासिक उपन्यास का स्वरूप तैयार किया है। उपन्यासकार को निकट अतीत की घटनाओं को उपन्यास का विषय बनाने में अनेक चुनौतियों का सामना भी करना पड़ता है। क्योंकि निकट अतीत की घटनाएँ व्यक्ति के जीवन के अधिक निकट होती हैं। जिसमें उपन्यासकार को अपनी कलात्मक-शक्ति का प्रदर्शन करने का कम अवसर प्राप्त होता है। लेखक अपने संवेदनात्मक अनुभूति को प्रस्तुत करने के लिए उन अँधेरों और धुंधों की तलाश करता है। जहाँ वह अपनी प्रतिभा और कला-कौशल का कमाल दिखा सके। राजेन्द्र यादव का कहना, "सीमित कथ्य के बावजूद उपन्यास के रूप में मुझे अँधरे की परछाइयाँ गिरमिटिया के मुकाबले कही अधिक सशक्त रचना लगती है। वहाँ गाँधी की महिमा का आतंक नही है। बेटे 'हरि' और बाप 'गाँधी' के द्वन्द्वात्मक संबंधो की कहानी है और बेहद संवेदनशीलता से लिखी गई है वहाँ न कोई गलत है, न खलनायक दोनों ही अपनी-अपनी जगह सही हैं। सिद्धान्तवादी डिक्टेटर गाँधी से बाप का प्यार माँगता है, न मिलने पर टूटता, बिखरता और भटकता बेटा है। ऐतिहसिक तथ्यों को सुरक्षित रखते हुए वहाँ औपन्यासिक कल्पना शीलता की गुंजाइश ज्यादा है। क्योंकि हरि का जीवन गाँधी की चका-चौंध में प्रायः अंधकार में ही बना रहा है।"[12]

उपन्यासकार उन धुंधो और उन अँधेरों को पकड़ने में चूक गया है। जिसमें उसकी लेखकीय संवेदना विस्तार पाती। राजेन्द्र यादव का कहना कि रचनाकार निर्माता न होकर एक गुलाम है यह कथन उपन्यासकार की पूर्वग्रह-दृष्टि को दर्शाता है। उपन्यासकार गाँधी के चरित्र को अलौकिक करने की बजाय गिरमिटियों के जीवन-संघर्ष को प्रस्तुत करने में अपनी प्रतिभा और कला-कौशल का भरपूर इस्तेमाल किया है। दक्षिण अफ्रीका के गिरमिटियों का जीवन-संघर्ष सभी ब्रिटिश उपनिवेशों के भारतीय गिरमिटियों का दास्तान है। इसलिए केवल गाँधी के अलौकिकीकरण के प्रसंग में उपन्यासकार की औपन्यासिक-कला का विवेचन करना ठीक नहीं है। उपन्यासकार गाँधी को लेकर जरूर पूर्वग्रही है लेकिन गिरमिटियों के जीवन-संघर्ष को संपूर्णता में प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। उपन्यास का स्वरूप गिरमिटिया मजदूरों के ऐतिहासिक संघर्ष को लेकर निर्मित हुआ है। इसीलिए यह उपन्यास अपनी औपन्यासिक-कला के साथ ऐतिहासिक उपन्यास की श्रेणी में रखा जा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1	गिरिराज किशोर	पहला गिरमिटिया	पृ० 14
2	नित्यानन्द तिवारी	साहित्य का स्वरूप	पृ० 73
3	प्रेमचन्द	कुछ विचार	पृ० 47
4	गिरिराज किशोर	पहला गिरमिटिया	पृ० 104
5	ई०. यच.० कार.	इतिहास क्या है?	पृ० 15
6	भाषा (पत्रिका)	ईतिहास और उपन्यास जनवरी, फरवरी 2000	पृ० 65
7	ई०. यच०. कार.	ईतिहास क्या है?	पृ० 3
8	भाषा	भाषा जनवरी-फरवरी	2000
9	वही		
10	इन्द्रप्रस्थ भारती (पत्रिका)	ऐतिहासिक उपन्यासों की काल चेतना	पृ०.141
11	वही		पृ० 141
12	राजेंद यादव	हंस (सम्पादकीय) नवम्बर 1999	

तृतीय अध्याय
पहला गिरमिटिया और प्रवासी जीवन की समस्याएँ

आठ वर्षो के कठिन परिश्रम के बाद गिरिराज किशोर ने नौ सौ चार पृष्ठों का पहला गिरमिटिया उपन्यास लिखा है। इसके लिए सैकड़ों पुस्तकों, दस्तावेजों, साक्षात्कारों से गुजरने के अलावा उन्होंने लन्दन मारीशस और गुजरात इत्यादि की यात्राएँ भी की है। इस उपन्यास में गिरिराज किशोर ने मोहनदास के बहाने प्रवासी भारतीयों की संवेदना को अभिव्यक्त करने की कोशिश की है। प्रवासी भारतीयों की समस्याओं ने ही मोहनदास को महात्मा बनाया है। मोहनदास भी एक सामान्य भारतीय व्यक्ति था। वह दादा अब्दुल्ला के बुलाने पर एक साल के लिए दक्षिण अफ्रीका गया। उसके जीवन में ऐसा क्या घटित हुआ कि वह अपने जीवन का बाइस वर्ष दक्षिण अफ्रीका में गुजार दिया ? उपन्यासकार ने इन सभी प्रश्नों से टकराने की कोशिश की है। उपन्यास में उन्हीं प्रवासी भारतीयों की कथा है जिनकी सन्ताने आज भी गाहे-बगाहे नस्लवाद की शिकार होती रहती हैं। उपन्यासकार ने अपनी यात्राओं के क्रम में उन स्थानों को देखा, जहाँ पर गिरमिटियों ने मोहनदास के नेतृत्व में अपने अधिकार की लड़ाई लड़ी थी। गिरमिटियों की संवेदनाओं और समस्याओं को गिरिराज किशोर ने जिस रूप में प्रस्तुत किया है उससे लगता है कि जैसे उन संवेदनाओं-समस्याओं को उन्होंने खुद अनुभूत किया है। गिरमिटियों की एक-एक समस्या को विश्लेषणत्मक ढंग से प्रस्तुत करना एक संवेदनशील लेखक के वश की ही बात है। इस उत्तरदायित्व को गिरिराज किशोर ने बखूबी निभाया हैं यही कारण है कि उपन्यास पठनीय है।

उपन्यास में अभिव्यक्त सामाजिक समस्याएँ

'पहला गिरमिटिया' एक बहु-आयामी उपन्यास है। इस उपन्यास में जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों पर लम्बी-लम्बी चर्चाएँ एवं संदर्भ हैं। गिरमिटियों की समस्याओं को विश्लेषण की सुविधा के लिए सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखना उपयुक्त होगा। उन्नीसवीं शताब्दी के पुर्वार्द्ध में भारत में अनेक सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों का जन्म हुआ जिनका मुख्य उद्देश्य जनता के बीच विवेकशील दृष्टि, वैज्ञानिक सोच की भावना, स्त्री-पुरूष की मानवीय प्रतिष्ठा और सामाजिक समानता की भावना का प्रचार-प्रसार करना था। विशेष रूप से उन संगठनों ने मूर्तिपूजा, जाति की कट्टरता और निरर्थक धार्मिक कृत्यों के प्रचलन का जोरदार विरोध किया।

उन्नीसवीं सदी के चौथे-पाँचवे दशक के अन्तर्गत हेनरी विवियन डेराजियों के नेतृत्व में 'यंग-बंगाल' नामक आन्दोलन, शुरू हुआ जिसके अनुयायियों ने राममोहन राय की परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने प्रेस की स्वतन्त्रता, विदेश स्थित ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीय मजदूरों के साथ बेहतर व्यवहार, जूरी द्वारा मुकदमों की सुनवायी, अत्याचारी जमींदारों से रैयतों की सुरक्षा और सरकारी सेवाओं के उच्चतर वेतनमानों में भारतीयों को रोजगार देने जैसे सार्वजनिक प्रश्नों पर आम आन्दोलन चलाए।

इसी तरह ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने सन 1855 में 'विधवा पुनर्विवाह' के पक्ष में अपनी शक्तिशाली आवाज उठायी और बाल विवाह तथा बहुविवाह के विरूद्ध आन्दोलन चलाया।

इन आन्दोलनों ने भारतीय समाज की बुराइयों को दूर करने की कोशिश की और काफी हद तक सफलता भी मिली। लेकिन इसी भारतीय समाज का एक अंग गिरमिटिया मजदूरों का था जिन्हें आरकाठियों ने लुभावने प्रलोभन देकर ब्रिटिश उपनिवेशों में अभिशप्त जिंदगी जीने के लिए भेज दिया था। उनकी भी समस्या न्यूनाधिक भारतीयों जैसी ही थी । अन्तर यही था कि यहाँ अँग्रेज भारतीयों के साथ उस तरह मनमानी नहीं कर पाते थे जिस तरह अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों में। यहाँ जनता के विद्रोह का भय उन्हे हरदम सताये रहता था।

कुछ समय पूर्व भारत में अछूतों की स्थिति काफी दयनीय थी अक्सर उनकी बस्तियाँ गाँवों के दक्षिण में बनायी जाती थीं राह चलते हुए उन्हें नाना प्रकार से अपनी उपस्थिति दर्ज करानी पड़ती थी। कभी चिल्लाकर अथवा कभी सूप पीटकर। यह सब केवल इसलिए था कि उस आवाज को सुनकर प्रभुवर्ग उनके मार्ग से हट जायँ और छूत से बच जायँ। ब्रिटिश उपनिवेशों में गोरे भी भारतीय गिरमिटिया मजदूरों के साथ लगभग इसी तरह पेश आते थे गोरों की भेदभाव पूर्ण-दृष्टि गिरमिटियों तक ही सीमित नहीं थी बल्कि भारतीय व्यापारियों और वतनी लोगों पर भी न्यूनाधिक लागू होती थी। देवाराम नामक गिरमिटिया को जो घर मिला था उसका चित्रण इस प्रकार है - "वह लम्बी-सी फूस की छत से ढकी बैरक का काबकनुमा हिस्सा था वहाँ सब कुली रहते थे और 'कुली लाइन्स' कहा जाता था। सिविल लाइन्स में गोरे और बड़े लोग रहते थे और कुली लाइन्स में कुली लोग ...चूल्हा जला नहीं कि सारा घर धुएँ से भर गया...बच्चे खाँसते रहते थे। वहीं सोना, वहीं खाना, कोने में मोरी थी उसी पर बैठकर सब नहाते थे, रात को वहीं बैठकर पेशाब भी करते थे...बदबू की पर्त उस घर को बराबर ढके रहती थी। शुरू में तो बच्चों तक उबकाई आती थी। धीरे-धीरे आदत पड़ती गयी ...कई बार घर का कोई बीमार होता थे तो उसे भी शौचादि के लिए उसी मोरी पर बैठा दिया जाता था। अब तो यह हालत हो गयी थी कि मच्छर और बदबू न हो तो घर, घर न लगे।"[1]

ऐसी हालत थी गिरमिटिया मजदूरों की जो तथाकथित सभ्य गोरों के सानिध्य में रहते थे। आज भी भारतीय शहरों में 'सिविल लाइन्स' एक अलग ही आवास क्षेत्र होता है जिसमें शहर के सभ्य लोग रहते हैं इन लोगों को अँग्रेजों की फोटो कापी माना जा सकता है। वे अपने आप को दूसरे लोगों से भिन्न मानते हैं और आत्मश्लाघा जैसी प्रवृत्ति से ग्रसित रहे हैं। गोरों मे नस्लवाद इतनी बुरी तरह से घर कर गयी थी कि वे स्वयं को दुनिया का शासक और सभ्य तथा दूसरों को शासित और असभ्य समझते थे। इसलिए वे केवल गिरमिटिया और भारतीयों से ही घृणा नहीं करते थे बल्कि गोरी नस्ल के अलावा दुनिया की जितनी भी अन्य जातियाँ थीं उनके लिए घृणा की पात्र थीं। इसी घृणित मानसिकता के कारण गोरों ने मोहनदास को पीटर मेरिट्जवर्ग स्टेशन पर ट्रेन में से घसीट कर प्लेटफार्म पर फेंक दिया- "मोहनदास फर्श पर अच्छी तरह पैर जमा लिये थे। सिपाही जानदार था उसने मोहनदास को कन्धों से पकड़ कर उठाया और घसीटता हुआ दरवाजे तक ले गया।...दरवाजे पर पहुँचकर मोहनदास ने डण्डा पकड़ने की केशिश की । लेकिन पीछे से इतनी जोर से धक्का दिया गया कि वह प्लेटफार्म पर जाकर गिरा। ....उसके घुटने और कुहनियाँ छिल गये थे। उसके गिरते उसका सामान भी उसी फैशन में बाहर फेंका।"[2] इस तरह का व्यवहार एक भारतीय वैरिस्टर के साथ किया जा रहा था तो सामान्य आदमी के साथ कैसा व्यवहार होता रहा होगा यह अकल्पनीय है। भारतीय मुस्लिम व्यापारी अपने को भारतीय न कहकर अरब वाला बताते थे, वे अपने को अन्य भरतीयों से श्रेष्ठ समझते थे। गोरों की तरह वे भी गिरमिटिया मजदूरों को नाख्वान्दा, नामाकूल कहते थे। लेकिन जब यही व्यवसायी ट्रॉसवाल के प्रधानमंत्री क्रूगर से मिलने गये तो क्रूगर ने यह कहकर लौटा दिया, "तुम सब इस्माइल की औलाद हो। इसलिए ईसू की सन्तान की गुलामी करना तुम्हारा फर्ज है। ईसू की सन्तान तुम्हें बराबर का दर्जा कैसे दे सकती है ? जितना मिले उसमें सब्र करो।"[3] इसी तरह भारत में भी एक वर्ग था जो अपने लोगों से ही घृणा करता था। और अंग्रेजों की दृष्टि में खुद घृणित था। इन्हीं सामाजिक समस्याओं को दूर करने के लिए भारत में अनेक समाज-सुधारक आन्दोलनों का जन्म हुआ लेकिन दक्षिण अफ्रीका में ऐसे आन्दोलनों का अभाव रहा। मोहनदास ने काफी हद तक सभी भारतीयों को इकट्ठा करने की कोशिश की लेकिन अन्ततः व्यापारी वर्ग ने आन्दोलन मे शामिल होने से इंकार कर दिया।

दक्षिण अफ्रीका में नस्लवाद का प्रकोप इतना जबरदस्त था कि किसी भी भारतीय को रेल के प्रथम श्रेणी में यात्रा करना तो दूर रहा रेलवे स्टेशन पर भारतीयों एवं गोरों के आने-जाने के लिए रास्ते भी अलग थे।

नस्लवाद के कारण ही गोरे जमींदारों ने गिरमिटिया मजदूरों से काम ज्यादा लेते थे और मजदूरी कम देते थे जिससे परिवार का भरण-पोषण बड़ी मुश्किल से हो पाता था। नेटाल में गिरमिटिया लोग जो मक्का खाते थे वही वहाँ के पशु भी। गोरे गिरमिटियों को पशुओं के समान ही मानते थे। यदि कोई गिरमिटिया बीमार हो जाता तो उसे गिरमिट तोड़ने के अपराध में जेल में भेज दिया जाता था। जेल में वतनी गैर मुल्की के साथ अंग्रेजों जैसा व्यवहार करत थे। "वार्डर ने सोचा गैर मुल्की है।, गैर मुलकी बदमाश और कामचोर होते हैं। बहाना करके पड़ा है।.उसने आकर दो-तीन ठोकरें जमायी। करन पिल्लै पानी के ड्रम मे जा गिरा। वार्डर को काफी मजा आया। वह हँसता हुआ चला, "पी पानी हो जा ताजा। देखते-देखते उसके हाथ-पाँव पसर गये।"[4] अँग्रेज नस्लवाद से ग्रसित होकर भारतीयों से बुरा बर्ताव करते और वतनी विदेशी समझकर। दोनों समुदायों में भारतीय फिट नहीं हो पा रहे थे। वतनी भी भारतीयों को कामचोर और बदमाश के रूप में ही देखते थे। इसलिए करन पिल्लै की बीमारी को नजर अन्दाज कर, अस्वस्थ हालत में वार्डर ने उसे बट से तीन-चार ठोकर मारकर पानी के ड्रम में ढकेल दिया था और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। बालसुन्दरम् को गोरे साहब ने इसलिए बेरहमी से पीटा था कि वह बगीचे में थोड़ी देर से पहुँचा। वह किसी तरह से मोहनदास के पास पहुँचा। मोहनदास ने बालसुन्दरम को अदालत में पेश किया। मजिस्ट्रेट यह मानने को तैयार ही नहीं था कि कोई गोरा आदमी किसी मजदूर को इस तरह से मार सकता है- "अमानवीय एक सभ्य आदमी इतना अमानवीय कैसे हो सकता है।"[5] गोरों के दिमाग में गिरमिटियों के बारे में यह भावना घर कर गयी थी कि गिरमिटियों को जितना भी मारा जाय, वे उतनी की ईमानदारी से काम करते हैं नहीं तो कामचोरी और हुक्म-उदूली करते हैं।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीय व्यापारियों के अतिरिक्त पढ़े-लिखे भारतीय भी गिरमिटियों को अछूत और नाख्वान्दा और नामाकूल मानते थे। जो भारतीय अँग्रेजी पढ़-लिख गये थे और ईसाई बन गये थे, वे अपने को गोरों का ही सगा-सम्बंन्धी मानकर चलते थे। हिन्दुस्तानी उनके लिए काला आदमी या कुली थे। भारतीयों के शोषण या उत्पीड़न के लिए बनने वाले कानूनों का वे समर्थन करते थे लेकिन अंग्रेज उन्हें भी शक की निगाह से देखते थे। उनका मानना था कि - "खून पानी से गाढ़ा होता है।..धर्म चाहे जो भी हो लेकिन उनका खून भारतीय ही है। ...भले ही ईसाई हो गये, अँग्रेजी पढ़ गये, खून तो गन्दा ही है।"[6] गोरे लोग इन अँगेजी-दाँ नौजवानों को भी भारतीय व्यवसायियों और गिरमिटियों की श्रेणी में ही रखते थे। अन्तर यही था कि वह दुर्व्यवहार इन लोगों के साथ नहीं किया जाता था जो गिरमिटियों के साथ। लेकिन फिर भी कभी-कभी भारतीय होने की सजा तो भुगतनी ही पड़ती थी। लक्ष्मण राबर्ट और सैमुअल रिचर्ड्स क्रिश्चियन थे। 'पास' न होने के कारण (पास कुलियों को मिलता था) पुलिस उनसे भी अभद्रता से पेश आयी तथा रिचर्ड्स को जेल भेज दी। इसी तरह जो गिरमिट से छूटे थे वे अपना छोटा-मोटा धंधा करते थे। लेकिन वे भी पुलिस की कहर से बच नहीं पाते। ग्रे-स्ट्रीट के पास सब्जी बेचने वाले स्वतंत्र गिरमिटियों को इसलिए पुलिस ने अदालत में पेश कर दिया कि वे काले थे और सुबह ही सब्जी बेचने के लिए मण्डी निकल पड़े थे।

गिरमिटियों के असहनीय दमन को देखकर मोहनदास इंडेंचर्ड लॉ का अध्ययन किया उससे जो तथ्य सामने आये वे दिल दहला देने वाले थे। इंडेंचर्ड लॉ के अनुसार, "अगर एक या सब गिरमिटिया बिना छुटटी लिए मालिक या मालिकों की शिकायत दर्ज कराने के लिए काम से गैर हाजिर होते हैं तो उनपर मुकदमा चलाया जा सकता था। मुजरिम करार दिये जाने पर दो पौण्ड तक जुर्माना हो सकता था या फिर दो महीने की बामुशक्कत कैद या साधारण सजा दी जा सकती थी। उसके अलावा एक वर्ष में पच्चीस दिन की गैर हाजिरी पर गिरमिट की अवधि पचास दिन बढ़ जाती थी। पाँच साल गिरमिट खत्म होने के बाद पचास दिन की अवधि काटना काल जैसा लगता था। बहुत से बीमार या कमजोर मजदूर इन्हीं कारणों से जीवन भर गिरमिट पूरा नही कर पाते थे। बीमारी

तक में तनख्वाहें कटती थी। पहले दो सालों में पाँच पेंस प्रतिदिन कटौती की जाती थी। बाकी तीन साल छः पेंस प्रतिदिन कटता था। ज्यादा अनुपस्थिति होती थी तो भारतीय मजदूर को चाहे औरत हो या मर्द जेल भिजवाया जा सकता था।"[7] इन्डेंचर्ड लॉ जो कि गिरमिटियों की सुरक्षा के लिए बना था सुरक्षा से ज्यादा गुलामी को ही पुख्ता करता था। कोई भी मालिक किसी गिरमिटिया को अपने खिलाफ अदालत में जाने के लिये छुटटी कभी नहीं दे सकता था। इसी का फायदा उठा कर गोरे मालिक गिरमिटियों का भरपूर शोषण करते थे। कुछ बोलने पर गिरमिट तोड़ने या गैर हाजिर होने का आरोप लगाकर जेल भिजवा देते थे। जेल की हालत और भी खराब थी। करन पिल्लै की मृत्यु जेल जाने पर ही हो गयी थी।गिरमिटियों के लिए ब्रिटिश उपनिवेश मे कहीं भी शरण-स्थली नहीं थी। परिणामतः वे मृत्यु को ही प्राप्त होते थे।

महिला गिरमिटिया मजदूर और कम उम्र के कुलियों को उनकी सामर्थ्य के अनुसार काम करने का अधिकार था लेकिन औरतों को अपनी सामर्थ्य से अधिक काम करना पड़ता था। वे बोझा उठाकर लड़खड़ाती हुई चलती थीं। यदि कोई महिला आपत्ति करने की हिम्मत करती तो उसे जेल की हवा खानी पड़ती थी।

गिरमिटिया मजदूरों की एक बड़ी सामाजिक समस्या थी- सौ मर्दों पर चालीस स्त्रियाँ। मालिक द्वारा निर्धारित किसी भी औरत को तीन-चार मर्दों के बीच रहना पड़ता था। विवाहित स्त्रियों के अलावा जो स्त्रियाँ बचती थीं उन्हें सिरदार और ओवरसियर छड़े मर्दों में बाँट दी जाती थीं। इसीलिए गिरमिटिया औरत को 'कुली मेयरीज' का नाम दिया गया था। पति, पत्नी और बच्चों को अलग-अलग जगह कामों पर भेजा जा सकता था। बीमारी और अनैतिक यौन सम्बन्धों के कारण गिरमिटिया मजदूर यौन बीमारी से ग्रसित हो जाते थे।

महिला मजदूर अपने बच्चों को साथ लेकर खुले आसमान में देर रात तक काम करती थी जिसके कारण बच्चे किसी न किसी बीमारी से ग्रस्ति हो जाते थे और अन्ततः मर जाते थे। इंडेंचर्ड लॉ में मजदूरों की चिकित्सा का प्रावधान था लेकिन यदि कोई स्त्री अपने बच्चे की चिकित्सा के लिए सिरदार के पास जाती थी तो उसका उतर नकारात्मक ही होता था, "जाओ, काम करो, जब निबट जाय तो बता देना। बच्चे की मौत का सर्टीफिकेट दिला दूँगा।"[8] महिला मजदूर सुबह चार बजे से शाम आठ बजे तक खेतों में काम करती थीं। इसके बावजूद धौल-धप्पड़ मिलती थी, बच्चे भी कुपोषण के शिकार हो जाते थे। अधिकांश बच्चे तो विषम परिस्थितियों के कारण ही मर जाते थे।

गोरे मालिक इतने अमानवीय और पाशविक होते थे कि किसी गिरमिटिया मजदूर की आँख फोड़ने और हाथ तोड़ने में तनिक भी संकोच नही करते थे- "आग की लपटें बहुत तेज थी और आसमान छू रही थीं। मैं पीछे हटता था तो मेरा मालिक मुझे कोचंता था, पीटता था मैं आग बुझाता रहा। आखिरकार मैं बेहोश होकर गिर गया जब होश आया तो मुझे कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। मैं अंधा हो चुका था।"[9] एक कुली वेटर की ऐसी ही दास्तान है जिसके मालिक ने उसका हाथ तोड़ दिया था- "जैसे ही वह यह बताने के लिए आया कि बावर्चीखाने में उसे ट्रे नहीं मिली वह उस पर झपट पड़ा। उसका हाथ मरोड़ दिया और धौल पर धौल जमाता रहा। यहाँ तक की उसके नाक और मुँह से खून निकलने लगा। उसका साफा खून से तर हो गया।"[10] इस पर यदि कोई वादी अदालत जाता था तो मजिस्ट्रेट का फैसला भी भेदभाव पूर्ण होता था- "वादी ने मि० जॉनसन 'जूनियर' के खिलाफ अपना मुकदमा बनाने के लिए अपनी नाक से टपकी एक-एक बूँद को अपने साफे में संभालकर रखा था।"[11] ब्रिटिश सरकार की इसी न्याय प्रियता को कुछ लोग समानता और स्वतंत्रता के अधिकार की सुरक्षा करने वाली सरकार कहा करते थे तथा इसी सरकार के वायसराय को 'जनगण मन अधिनायक' कहा करते थे। महात्मा गाँधी भी शुरू-शुरू में अँग्रेजी सरकार की न्यायप्रियता पर बहुत मुग्ध थे लेकिन जब उन्होंने अपनी आँखों से

गिरमिटिया मजदूरों की नारकीय जिंदगी देखी तब ब्रिटिश पार्लियामेंट को अपनी पुस्तक हिन्द-स्वराज (पृ० 15) में बाँझ और वेश्या कहा। बाँझ शब्द का स्पष्टीकरण देते हुए उन्होंने कहा था, अब तक उस पार्लियामेंट ने अपने आप एक भी अच्छा काम नहीं किया। अगर उस पर जोर दबाव डालने वाला कोई न हो तो वह कुछ भी न करे, ऐसी उसकी कुदरती हालत है। और वह बेसवा है क्योंकि जो मंत्रीमण्डल उसे रखे उसके पास वह रहती है तथा न्याय-पालिका के एजेन्टों पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं "लोग दूसरों का दुख दूर करने के लिए नहीं, बल्कि पैसा पैदा करने के लिए वकील बनते हैं। वह एक कमाई का रास्ता है। इसलिए वकील का स्वार्थ झगड़ा बढ़ाने से है। यह तो मेरी जानी हुई बात है कि जब झगड़े होते हैं तब वकील खुश होते हैं। मुख़्तार लोग भी वकील की जात के हैं। जहाँ झगड़े नहीं होते वहाँ भी वे झगड़े खड़े करते हैं। उनके दलाल जोंक की तरह गरीब लोगों से चिपकते हैं। और उनका खून चूस लेते हैं। वकील लोग निठल्ले होते है। आलसी लोग ऐश-ओ-आराम करने के लिए वकील बनते हैं अगर वकील वकालत करना छोड़ दें और वह पेशा वेश्या के पेशे जैसा नीच माना जाये, तो अँग्रेजी राज एक दिन में टूट जाय।"[12] न्यायपालिका के इसी व्यवहार के कारण जो भी गिरमिटिया अदालत जाता था। उसको न्याय मिलना मुश्किल हो जाता था। ऊपर से जो कुछ हाथ में रहता उसको भी गँवाकर आता। न्यायपालिका की इस प्रवृत्ति का उदाहरण आज भी भारतीय अदालतों में कहीं न कहीं देखने को मिल जाता है। कोर्ट मे एक बलात्कृत महिला से जिस प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं उसकी डर से आज भी सामान्य महिला अदालत में जाने से डरती है। अभी हाल ही में इलाहाबाद हाईकोर्ट में एक मामले को लेकर काफी विवाद उठा था। एक न्यायाधीश ने अपना कमरा गंगा जल से इसलिए धुलवाया कि उस कमरे में पहले एक दलित न्यायाधीश बैठता था। आज भी इस गर्म देश मेंन्यायालयों में जज और वकील काले कपड़े पहनते हैं। जबकि अँग्रेज न्यायालयों में काले कपड़े इसलिए पहनते थे कि उनका देश शीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित था। वे सूर्य की ऊष्मा प्राप्त करने के लिए काला कोट पहनते थे। जिससे शरीर ऊष्मा प्राप्त करती थी। उसी औपचारिकता को अँग्रेज यहाँ भी पालन करते थे हमने उनकी औपचारिकताओं को अंधभक्त की तरह स्वीकार किया। यहाँ तक की उनकी भेदभाव पूर्ण नीति को भी पूर्ण रूप से स्वीकार किये। आज भी सामान्य जनता को न्याय नहीं मिल पाता है- "अगर हिन्दुस्तान अँग्रेज प्रजा की नकल करे तो हिन्दुस्तान पामाल हो जाय, ऐसा मेरा पक्का खयाल है।"[13]

अंधश्रद्धा मनुष्य को पामाल बना देती है। किसी भी चीज़ का अनुकरण आलोचनात्मक विवेक से होना चाहिए। नहीं तो वह अनुकरण जीवन के लिए लाभदायक कम और हानिकारक ज्यादा साबित होगा। ब्रिटिश उपनिवेश, दक्षिण अफ्रीका में उपनिवेशी न्यायपलिका के न्याय के तरीके और गोरे मालिकों का गिरमिटियों के प्रति अमानवीय व्यवहार ने गिरमिटियों को आत्महत्या करने के लिये विवश कर दिया था-"इन्हीं सब कारणों से गिरमिटियों में आत्महत्या करने की घटनाएँ बढ़ रही हैं सन् 1884 में एक हजार अस्सी लोगों ने मौत को गले लगाया था।"[14] हालाँकि आज भी भारत में इस तरह आत्महत्या की घटनाएँ मिल जाती हैं। अभी हाल ही में एक दलित बी०.डी०.ओ०. की आत्महत्या का मामला काफी विवाद का विषय बना था। कारण, उसके ऑफीसर और मातहत कर्मचारी उसे काफी प्रताड़ित करते थे।

दक्षिण अफ्रीका के ट्रॉसवाल उपनिवेश में भारतीय कुली मजदूरों की बस्ती शहर से बाहर होती थी, जिसे 'कुली लोकेशन' के नाम से पुकारा जाता था। 'कुली' केवल कुली लोकेशन में ही रह सकते थे। शहर के दूसरे हिस्सों में आने-जाने का समय भी निर्धारित था। 'कुली-लोकेशन' की जमीन का पट्टा सौ साल के लिए दिया जाता था। बस्ती में सफाई स्वच्छ पानी, रोशनी का नामोनिशान भी नहीं था। तिस पर उनको गन्दे बुरे, बीमारी के संवाहक के रूप में प्रचारित किया जाता था। कुली-लोकेशन को भारतीय गाँव की हरिजन बस्ती (चमरौटी) के रूप

में देखा जा सकता है। कुली लोकेशन को उसके स्थान से हटाने का निर्णय म्युनिसिपैलिटी ने लिया। हालांकि गन्दगी के लिए म्युनिसिपैलिटी ही जिम्मेदार थी। अन्ततः म्युनिसिपैलिटी को कुली लोकेशन के लोगों को मुआवज़ा देना पड़ा और उन्हें दूसरी जगह बसाना पड़ा तथा बस्ती को जला दिया गया।

भारतीय अपनी सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए यदि कोई काम करते तो अखबार वाले भी भारतीयों के प्रति अपनी दुर्भावनाओं को प्रकट करने से नहीं चूकते। जब भारतीयों ने मोहनदास के साथ मिलकर नेटाल काँग्रेस की स्थापना की-जिसका उद्देश्य गिरमिटियों की हालत पर नजर नखना, उनकी आजादी के लिए यथोचित प्रयत्न करना। गरीब और असहाय भारतीयों की सहायता करना तथा वे सब काम करना जिससे प्रवासी भारतीयों की सामाजिक स्थिति में सुधार हो तब टाइम्स ऑफ नेटाल्स में रामी सामी शीर्षक से एक अग्रलेख छपा। यहाँ रामी का प्रयोग राम को मानने वाले उतर भारत के उन लोगों के लिए था जिनके नाम के आगे या पीछे राम लगा रहता था। और सामी का प्रयोग दक्षिण भारतीयों के लिए था। इस तरह की शब्दावलियों का प्रयोग अँग्रेजी अखबार जान बूझकर भारतीयों को अपमानित करने के लिए करते थे। नेटाल कांग्रेस को कभी भारतीयों का षडंयत्रकारी संगठन कहा जाता था तो कभी नेटाल सरकार के खिलाफ गठित राजनीतिक पार्टी। भारतीयों को चारों तरफ से अपमानित और शोषित होना पड़ता था। इस अपमान और शोषण को गिरमिटियों ने अपने गीतों के द्वारा बड़ी संजीदगी से प्रस्तुत किया है-

"सुन-सुन रे भारत वासी, सुन
हम अपनी धरती से उखड़े जन,
हम अपनी किस्मत पर आसूँ बहावें
कलकत्ता और मुम्बई से जहजवा छूटा
भैया छूटे, बहना छूटी, मैया छूटी, घरवा छूटा।
देशवा याद आवे, रोवै सो रोवै।
हम सीधे-सादे गँवई दरिन्दों ने घेरे
मुट्ठी भर दानों के मारे
लाज खोयी बन भिखारी डोले।" [15]

इन पंक्तियो में गिरमिटियों का दर्द छुपा हुआ है। ये लोग गिरमिटिया क्यों और कैसे बने इसकी चर्चा मैंने पहले अध्याय में विस्तृत रूप से की है। अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य भारत के उद्योगों को चौपट कर मात्र एक बाजार के रूप में परिणत कर देना था। जिससे भारतीय कारीगर बेरोजगार हो जायें। और रोटी की तलाश में ब्रिटिश उपनिवेशों की ओर प्रस्थान किरें। उधर किसानों के उपर इतना भू-राजस्व लाद दिया जाता जिसको वहन करने में असमर्थ हो जाते थे। परिणामतः उनकी जमीन नीलाम कर दी जाती थी। आरकाठी इस मजबूरी का फायदा उठाकर उन्हें लुभावने प्रलोभन देते तथा ब्रिटिश उपनिवेशों को गिरमिटिया के रूप में भेज देते। रास्ते में विरोध करने पर गिरमिटिया महिलाओं के साथ बदफेली किया जाता था, विरोध करने पर समुद्र में फेंक दिया जाता था। उपनिवेशों में पहुचने के बाद वे जिन समस्याओं से गुजरते, उसकी साक्षी ये पंक्तियाँ हैं-

"मूँड़ उठाये तो डण्डा मारें
खड़े हों तो धरती पर डालें
गोरी काली गाली देवें
साला कहें, ससुरा कहें
बाकी समझ नापावें।" [16]

और अन्ततः यह कराह निकलती "काली कुठरिया में कैसे बीते रतिया", ये पंक्तियाँ गिरमिटियों की दयनीय और अमानवीय हालत को ही प्रस्तुत नहीं करतीं वरन सभ्य कहे जाने वाले अंग्रेजों की पाशविकता को भी उजागर करती हैं। 'काली कुठरिया' वाली पंक्ति के साथ 'मूँड़ उठाये तो डण्डा मारे' को मिलाकर पढ़ने से जो बिम्ब प्रस्तुत होता है वही गिरमिटिया मजदूरों की सामाजिक स्थिति को प्रकट करता है। ये पंक्तियाँ भारतीयों के साथ हुए दुर्व्यवहारों को साक्षी है।

प्रवासी जीवन की राजनीतिक समस्याएँ

गिरमिटियों के राजनीतिक जीवन की समस्याएँ उस समय से शुरू होती हैं जब सभी भारतीय एक मुश्त वोट ऐस्कम्ब साहब के पक्ष में डाल देते हैं। ऐस्कम्ब भारतीय व्यापारियों के मुकदमें देखते थे और भारतीयों की रहनुमाई करते थे। ऐस्कम्ब की जीत ने नेटाल सरकार में खलबली मचा दी। इस घटना से क्षुब्ध होकर तथा भारतीयों को सबक सिखाने की नीयत से नेटाल संसद में मताधिकार संशोधन बिल पेश किया गया। इस बिल का उद्देश्य भारतीयों के मताधिकार को समाप्त करना था। बिल को रोकने के लिए भारतीयों ने संसद के अध्यक्ष के नाम एक मसौदा तैयार कर भेजा और कहा कि हम भारतीय संसद में पेश मताधिकार से सम्बंधित बिल से चिन्तित हैं, उसका विरोध करते हैं। उसका वाचन अविलम्ब रोक दिया जाय। बिल का वाचन दो दिन के लिए रोक भी दिया गया। इसी बीच प्रवासी भारतीयों ने मोहन दास के साथ मिलकर कई हजार हस्ताक्षर-युक्त एक प्रत्यावेदन नेटाल संसद को भेजा। इसमें भारतीय ग्राम-पंचायत का उदाहरण देकर भारतीय प्रातिनिधिक संस्थाओं का उल्लेख किया गया और उनके मताधिकार की संस्तुति की गई थी। अन्ततः नेटाल संसद ने मताधिकार संशोधन बिल को कानून बना दिया। इसी तरह ट्रॉसवाल में भी भारतीय व्यवसायियों के बढ़ते व्यवसाय को रोकने के लिये गोरों ने ट्रॉसवाल संसद में एक प्रस्ताव लाया था कि भारतीयों को वहाँ से निकाला जाय। इसका कारण यह बताया गया था कि ये बर्बर हैं, असभ्य हैं। अपनी औरतों को पीटते हैं, बीमारियों के घर हैं जमीन पर हगते-मूतते हैं और सोते हैं। प्रेसीडेण्ट क्रूगर ने उन्हें इस्माइल का औलाद और गोरों द्वारा शासित नस्ल घोषित किया था। नेटाल के प्रधानमंत्री ने भी मताधिकार की माँग को यह कहकर खारिज कर दिया- "मै कुली वर्ग के तर्कों से सहमत नहीं हूँ। मताधिकार का काकेशियन नस्ल के लोगों की विरासत है उसे उन हिन्दुस्तानियों को नहीं दिया जा सकता जो एक नीची नस्ल के लोग हैं।"[17]

मताधिकार सम्बन्धी कानून को रद्द कराने के लिए भारतीय संगठित हुए। उन्होंने मोहनदास के नेतृत्व में संघर्ष जारी रखने का निर्णय लिया। मोहनदास ने नेटाल सुप्रीम कोर्ट में वकालत करने के लिए अर्जी पेश किया ताकि वहाँ वैधानिक रूप से रहकर मताधिकार की लड़ाई लड़ी जा सके। गोरों ने अर्जी का विरोध किया- "अब देखिएगा यहाँ की कचहरियों में इन लोगों की लाइन लग जायेगी। 'गाँदी' उनका पुरखा बन जायेगा। डबल रोटी चाय पीकर मुफ्त काम करेंगे, हमारा बना बनाया बाजार बिगाड़ेंगे।"[18] नेटाल लॉ सोसाइटी के विरोध के बावजूद चीफ जस्टिस ने मोहन दास को एडवोकेट के रूप में पंजीकृत किया।

नेटाल संसद मताधिकार सम्बन्धी कानून बनाकर उसे स्वीकृति के लिए लन्दन भेजने वाली ही थी कि भारतीयों ने भी दस हजार हस्ताक्षर युक्त एक मसौदा तैयार कर नेटाल गवर्नर हाउस को भेजा। उसमें लिखा गया था कि विधेयक के साथ-साथ उन मसौदों को भी लन्दन भेज दिया जाय। उस समय दादा भाई नैरोजी भी ब्रिटिश संसद के सदस्य थे। मताधिकार संशोधन विधेयक के बारे में उनको भी सूचना दी गयी। ब्रिटिश संसद ने मताधिकार सम्बन्धी विधेयक रदद कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया में गोरे मालिकों ने गिरमिटियों के साथ तरह-तरह के अमानवीय व्यवहार किये। वे आपस में विचार करते कि गिरमिटियों के ऊपर इतनी सख्ती की जाय कि उनमें से

ज्यादातर भाग खड़े हों। यदि न भागें तो उन्हें ऐसा कर दिया जाय कि वे यहाँ रहने लायक न रहें। अन्ततः एक कानून बनाने का मसौदा पास हुआ। जिसमें प्रत्येक गिरमिटिया को नेटाल में रहने के लिए पचीस पौण्ड वार्षिक देना अनिवार्य होगा। जो गिरमिटिया पचीस पौण्ड पोल टैक्स नहीं देगा वह नेटाल में रह नही सकता।

मताधिकार संशोधन विधेयक के रद्द हो जाने पर नेटाल सरकार की काफी किरकिरी हुई थी। इस घटना से निजात पाने के लिए सरकार ने गोरों के उस मसौदे को मान लिया कि गिरमिट की अवधि के बाद यदि मजदूर उपनिवेश मे रहना चाहता है। तो वह हर पाँच साल बाद नया गिरमिट करे या पचीस पौण्ड पोल टैक्स दें, अन्यथा नेटाल छोड़ना पड़ेगा। इस मसौदे को कानून बनाने के लिए भारत के वायसराय की संस्तुति अनिवार्य थी। वायसराय ने तीन पौण्ड पोल टैक्स की अनुमति प्रदान की! फिर नेटाल सरकार ने सन् 1891 का 'इण्डियन इमिग्रेशन लॉ' को संशोधन कर अप्रैल 1895 ई० में तीन पौण्ड टैक्स के साथ पारित कर दिया। यह कानून विशेष तौर से गिरमिटियों के लिए ही बनाया गया था क्योंकि व्यावसायिक इस टैक्स को आसानी से दे सकते थे। इसीलिए इस कानून को रदद कराने के लिए प्रत्यक्ष रूप से व्यवसायियों का समर्थन नहीं प्राप्त हो सका। इस कानून का विरोध करने के लिए मोहनदास ने संसद के स्पीकर और सदस्यों को सम्बोधित करते हुए एक मसौदा तैयार किया-"इण्यिन इमिग्रेशन लॉ अठारह सौ इक्यानवे का संशोधन बिल अन्यायपूर्ण और तर्क विहीन है। गिरमिट की अवधि समाप्त हो जाने पर उपनिवेश में बसने के इच्छुक गिरमिटियों को तीन पौण्ड सालाना टैक्स देकर लाइसेंस बनाने की बात मूल विधेयक की भावना के नितान्त विरूद्ध है।"[19] इस बार गिरमिटियों के मसौदे पर न तो नेटाल संसद ने विचार किया और न ही लार्ड चेम्बरलेन ने ही। इसलिए तीन पौण्डिया पोल टैक्स के खिलाफ महौल तैयार करने के लिए इण्डियन नेशनल कांग्रेस की ओर से मोहनदास भारत आये। नेटाल कांग्रेस की स्थापना भारतीयों की सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को हल करने के लिए की गई थी। इसी के प्रतिनिधि के रूप में मोहनदास भारत आए थे। वे भारत में जगह-जगह सभाएँ करते तथा नेताओं से मिलकर और पैंफलेट लिखकर गिरमिटिया मजदूरों की समस्याओं से जनता को अवगत करा रहे थे। इसी बीच दक्षिण अफ्रीका से दादा अब्दुल्ला का तार आता है। वे तार के माध्यम से मोहनदास को सूचित करते हैं कि केप संसद ने एक कानून बनाकर ईस्ट लन्दन परिषद को अधिकृत किया है कि भारतीयों को आरक्षित की गई जमीन पर भेज दिया जाय और उनके फुटपाथों पर चलने पर रोक लगा दिया जाय।

इसी समय अँग्रेजों और बोअरों में युद्व छिड़ गया जिसमें भारतीय गिरमिटियों ने अँग्रेजो की तरफ से स्ट्रेचर ढ़ोने का काम किया थे। प्रभु सिंह गिरमिटिया के अद्वितीय कार्य से गोरों के बीच भारतीयों को कुछ सम्मान की द्वष्टि से देखा जाने लगा था। नवम्बर, 1900 ई० में मोहनदास ने फिर भारत आकर काँग्रेस के अधिवेशन में गिरमिटियों की समस्याओं पर लोगों का ध्यान केन्द्रित किया। अगस्त 1906 ई० को ट्राँसवाल सरकार ने एक अध्यादेश जारी किया-"हर भारतीय को चाहे वह मर्द हो या औरत या फिर आठ साल से ऊपर का बच्चा, ट्रांसवाल में बसने के लिए एशियाटिक रजिस्ट्रार कार्यालय में अपना रजिस्ट्रेशन कराना होगा और प्रमाण-पत्र हासिल करना होगा। . . . पुराने परमिटों को जमा करना होगा। रजिस्ट्रार पहचान के लिए उनके शरीर के स्थायी निशान नोट करेगा, उँगलियो और अँगूठों के निशान लेगा। जो निर्धारित तिथि तक अपने को पेश करके इस कार्यवाही को पूरा करने में सहायक नहीं होंगे ट्रांसवाल में रहने का उनका अधिकार निरस्त समझा जाएगा। उसके बाद उनका ट्रसवाल मे रहना कानूनी तौर पर अपराध माना जायेगा ऐसा करने वाले को जेल भेजा जा सकता है। जुर्माना किया जा सकता है और देश निकाला दिया जा सकता है।"[20] इस कानून के द्वारा भारतीयों को जरायम-पेशा जातियों के अन्तर्गत शामिल कर कभी भी अपराधी धेषित किया जा सकता था और जलावतनी दिया

जा सकता था इस कानून को रद्द कराने के लिए भारतीयों का एक प्रतिनिधि मंडल उपनिवेश मंत्री से मिला। डंकन ने स्त्रियों और बच्चों को इस कानून से निकालने का वादा कर शेष कानून को मानने की सलाह दी।

मोहनदास तथा भारतीयों के प्रयत्न से ब्रिटिश सरकार ने एशियाटिक कानून को मंजूरी देने से इंकार कर दिया तथा साथ में ट्रॅंसवाल सरकार को कानून बनाने की स्वायत्तता भी देदी। इस स्वतन्त्रता का फायदा उठाकर सरकार ने अपने पहले अधिवेशन में ही एशियाटिक कानून का नाम बदलकर 'एशियाटिक एमिग्रेशन रजिस्ट्रेशन बिल' के नाम से पास कर दिया। इसके साथ ही 'एमिग्रेशन रेस्ट्रिक्शन बिल' भी पास हो गया। भारतीयों ने इस कानून का विरोध 'सत्याग्रह' नामक अस्त्र से करने का निर्णय लिया। 'सत्याग्रह' का मतलब असहमत होते हुए भी प्रतिरोध का सम्मान। इसके लिए परस्पर विश्वास, आत्मानुशासन, समता और एकता की जरूरत होती है।

सन् 1907 में एशियाटिक कानून के तहत परमिट दफ्तर खोले गये। सत्याग्रही-इसमें व्यापारी शामिल नहीं हुए-कार्यालय पर धरना देते जो रजिस्ट्रेशन कराने जाता उसे कानून के बारे में बताते, न मानने पर सहायता भी करते थे। जो रजिस्ट्रेशन कराते थे, उन्हे समाज से बहिष्कृत घोषित करदिया जाता था धीरे-धीरे रजिस्ट्रेशन कराने वालों की संख्या कम हो गयी। सरकार अदालत के द्वारा सत्याग्रही नेताओं को नोटिस जारी करवाकर तीन-तीन महीने की सज़ा दिलवायी। मोहनदास को जिस वार्ड में रखा गया था वह बुरी तरह बदबू कर रहा था सत्याग्रहियों में ज़्यादातर खोंमचे वाले, फ़ेरी वाले, गिरमिट से छूटे कुली आदि थे। सत्याग्रहियों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही थी। उनकी बढ़ती संख्या को देख कर जनरल स्मट्स ने मोहनदास से एक कूटनीतिक समझौता किया, जिसके अन्तर्गत यदि भारतीय स्वयं रजिस्ट्रेशन करा लेते हैं तो एशियाटिक कानून रद्द कर दिया जायेगा। रजिस्ट्रेशन के समय दसों उंगलियों का निशान देना अनिवार्य था। उँगलियों का निशान केवल जरायम-पेशा वालों से ही लिया जाता था। मोहनदास उँगलियों के निशान देने को तैयार हो गये थे। इस बात को लेकर मीरआलम ने मोहनदास को लहूलुहान कर दिया था। चारों तरफ़ विरोधियों के द्वारा दुष्प्रचार किया जाने लगा कि मोहनदास ने जनरल स्मट्स से घूस लेकर एशियाइयों की इज़्ज़त नीलाम कर दी है।

सभी एशियाइयों के रजिस्ट्रेशन के बावजूद जनरल स्मट्स एशियाटिक एमिग्रेशन रजिस्ट्रेशन बिल और इमिग्रेशन रेस्ट्रिक्शन बिल को लागू किये रहा। भारतीयों ने सरकार को एक मसौदा तैयार करके भेजा कि यदि कानून को निश्चित तारीख तक रद्द नहीं किया गया तो सभी परमिट धारी सर्टीफिकेट की होली जलायेंगे।

सत्याग्रहियों को अनेक राजनीतिक समस्याएं झेलनी पड़ती थीं। कछालिया की संपत्ति कुर्क कर ली गयी। उसके फार्म को दिवालिया घोषित किया गया फ़िर भी सत्याग्रहियों ने 1908 ई० में परमिट की होली जलायी। एशियाटिक कानून के साथ ट्रॉंसवाल इमिग्रेशन रेस्ट्रिक्शन कानून का विरोध करने का निर्णय लिया गया। यदि कोई व्यक्ति अनधिकृत रूप से ट्रांसवाल में प्रवेश करता था तो उसे ट्रॅंसवाल इमिग्रेशन रेस्ट्रिक्शन कानून के तहत तीन तरह की सजाएं दी जा सकती थीं - "जुर्माना, जेल और जलावतनी। मजिस्ट्रेट के ऊपर था चाहे वह तीनों सजाएं एक साथ दे या अलग-अलग। जलावतनी का अर्थ था मुल्ज़िम को ट्रॅंसवाल की सरहद के बाहर छोड़ देना।"[21] सत्याग्रही सोराब ने ट्रॉंवाल में प्रवेश कर कानून का उल्लंधन किया। उसे एक महीने की सज़ा दी गई। फ़िर तो नेटाल सत्याग्रहियों का जेल भरो आन्दोलन शुरू हो गया। सरकार सत्याग्रहियों को रोड कैम्पों में रखती थी। उन कैम्पों में इतनी ठंडी थी कि सवेरे-सवेरे उठने पर उंगलियां जाम रहती थीं। मोहनदास को जेल में पाख़ाना करते हुए उठाकर बाहर फेंक दिया गया था।

सत्याग्रहियों का रोजगार गड़बड़ा गया था। घर में खाना नहीं था, बच्चे भूख से बिलबिला रहे थे। सरकार लोगों को जलावतनी देकर अपने अधिकार का अतिक्रमण कर रही थी। इसी बीच बोअर और यूरोपियन मिल गये थे जिससे भविष्य में भारतीयों की समस्याएँ और अधिक बढ़ने की संभावना थी। इसी खतरे

के तहत भारतीयों ने अपना एक प्रतिनिधि मण्डल लन्दन भेजा जिसमें ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन की तरफ से हाजी हबीब और सत्याग्रहियों की तरफ से मोहनदास थे। लेकिन वहाँ किसी समस्या का समाधान नहीं हो सका। यह कहा गया कि रंग भेद हमारी नीति का हिस्सा है, इसलिए कानून मानने में ही भलाई है।

30 नवम्बर, 1909 ई० तक 25000 सत्यागही जेल जा चुके थे। उनके साथ तरह तरह के अमानवीय व्यवहार किये गये थे। मणिलाल को बाल्टी में मुंह लगाकर पानी न पीने के कारण काल कोठरी में डाल दिया गया। सत्याग्रहियों के परिवार को भूखों मरने की नौबत आ जाती थी। इस समस्या से उबरने के लिए मोहनदास ने ट्रांसवाल में 'टालस्टाय आश्रम' का निर्माण किया जहाँ से सत्याग्रही जेल जाते और जेल से लौटकर वहीं पर सब मिलकर काम भी करते। गिरमिटियों की समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित कराने के लिए मोहनदास ने प्रो० गोखले को टालस्टाय आश्रम पर आमन्त्रित किया। वे गिरमिटियों की सभी समस्याओं-एशियाटिक कानून इमिग्रेशन कानून और तीन पौण्डिया पोल टैक्स को जनरल स्मट्स के सामने प्रस्तुत करते हैं। लेकिन प्रो० गोखले के जाने के बाद स्मट्स फिर वादाखिलाफी करके सत्याग्रहियों को आन्दोलन तेज करने को मजबूर करता है। सत्याग्रहियों के सामने एक समस्या यह उत्पन्न हो गयी कि उनके इस आन्दोलन से मुसलमानों ने अपने आप को अलग कर लिया। कारण, सरकार की दमनकारी नीति और तीन पौण्डिया टैक्स को सख्ती से लागू कर दिया गया था।

ट्राँसवाल सरकार के काले कानूनों के खिलाफ सत्याग्रहियों का आन्दोलन चल रहा था। इसी बीच सुप्रीम कोर्ट का एक फ़ैसला आया कि कोई विवाह तभी कानूनी माना जायेगा जब वह ईसाई पद्धति से संपन्न हो या रजिस्ट्रार ऑफिस में दर्ज हो। यह फ़ैसला एक प्रकार से भारतीयों को उपनिवेश से निकालने की एक साजिश थी। फैसले के अनुसार भारतीय विवाहिताएँ रखैल करार दे दी गयी थीं और बच्चे हरामी। इससे कोई बच्चा अपने बाप की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं बन सकता था।

इस कानून को सुनकर कस्तूर के नेतृत्व में आम महिलायें भी सत्याग्रहियों के साथ हो गयीं। इन महिलाओं ने ट्रांसवाल में प्रवेश किया। पुलिस कानून के उल्लंघन में सत्याग्रही महिलाओं को जेल भेजती थी। ट्रांसवाल की सत्याग्रही बहनें न्यू कैंसल जा कर मजदूरों को काले कानून के बारे में बताती और महिलाओं से मिलती। वे उन्हें सरकार की वादा खिलाफी के बारे में बताती। इनकी प्रेरणा से मजदूरों ने खानों में हड़ताल कर दी। मजदूरों को भड़काने के आरोप में सत्याग्रही बहनों को गिरफ्तार किया गया उन्हें जेल में तरह-तरह की यातनाएँ दी गईं, "कस्तूर, काशी, सन्तोष और जेकी को एक ऐसी जगह रखा गया जहाँ हब्शी औरतें कैद थीं। उनमें से एक अजीब तरह की बास आती थी। उनका रहन-सहन गंदा था। नग्नता का अंश बहुत अधिक था। उन्हें देखकर उन चारों महिलाओं को शर्म ही नहीं मितली भी आती थी। भाषा के कारण बात तो संभव नहीं थी पर वे उन्हें गंदे-गंदे इशारे करती थीं।"[22] सत्याग्रही बहनें एक राजनीतिक कैदी थीं लेकिन उन्हें आपराधिक कैदियों के साथ रखा जाता था। उन्हें केवल शारीरिक प्रताड़ना ही नहीं मानसिक ताड़ना भी दी जाती थी।

सत्याग्रह आन्दोलन में मजदूरों के शामिल हो जाने पर जेल भरो आन्दोलन तीव्र गति से शुरू हुआ। मजदूर अपने सब सामान बेचकर अपनी पत्नी और बच्चों के साथ इस आन्दोलन में शरीक हुए। खान मजदूरों के सत्याग्रह में शामिल हो जाने से खाने बन्द होने के कगार पर आ गयीं।

सत्याग्रहियों का मुख्य उद्देश्य इमिग्रेशन रेस्ट्रिक्शन कानून को तोड़ना था इसीलिए मोहनदास सत्याग्रही मजदूरों को साथ लेकर ट्राँसवाल की सीमा पर पहुँचे। मोहनदास को गिरफ्तार कर नौ महीने की सजा बामुशक्कत कर दी गयी। सत्याग्रहियों को बलफोर में गिरफ्तार कर ट्रेन से नेटाल खान मालिकों के पास भेज दिया गया। नतीजा यह हुआ कि खान मजदूरों से जबरदस्ती काम लिया जाने लगा। उन्हें कैदी से बिना मोल का गुलाम बना लिया गया- "चाबुक फटकारे जाने लगे। खुले नल से निकलने वाली मोटी-मोटी धार की तरह ताबड़-तोड़ गालियाँ

बरसने लगीं। लातें ऐसी चलती थी जैसे रेल के इंजन का पिस्टन, मुँह में मिटटी भरी जाती थी। पीछे से डण्डे चलाए जाते थे ... एक दूसरे के साथ बदफेली करने के लिए मजबूर किया जाता था।"[23]

इस प्रकार का उत्पीड़न उपनिवेश की जेलों और बागान मालिकों के यहाँ भी होता था। ये मजदूर न तो गिरमिटिया थे न खान मालिकों के नौकर बल्कि ये सत्याग्रही थे। अपने अधिकार के लिए लड़ रहे थे। भारत के वायसराय ने इस प्रकार के अमानवीय व्यवहार की खुलकर आलोचना की। उन्होंने इस सत्याग्रह को उचित ठहराया था। इसी तरह दक्षिण अफ्रीका के चारों उपनिवेशों मे खान मजदूरों ने हड़ताल कर दी। पुलिस उन्हें जबरदस्ती काम पर ले जाने के लिए मजबूर करती। मजदूर जमीन पर लेट जाते। सिपाही ठोकर मारते। वे लुढ़कना शुरूकर देते कराहते रहते, पर जमीन नहीं छोड़ते लहूलुहान हो जाने पर चीत्कार नहीं करते। वे अपने को सत्याग्रही कहते तथा अपने उद्देश्य पर अटल रहते थे।

दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने सत्याग्रहियों पर जिस तरह से अत्याचार किया था उसकी आलोचना जगह-जगह हो रही थी। इससे सरकार दबाव में आकर एक आयोग की स्थापना की। जिसे तीन पौण्डिया पोल टैक्स मंसूख करने भारतीय विवाह-पद्धति को बहाल करने तथा एक साला प्रमाण-पत्र की जगह तीन साला प्रमाण-पत्र देने की संस्तुति की। इस प्रकार सत्याग्रह के द्वारा प्रवासी भारतीयों ने अपने अधिकारों को प्राप्त करने में सफलता पायी।

प्रवासी भारतीयों की सांस्कृतिक समस्याएँ

प्रवासी भारतीय ब्रिटिश उपनिवेशों मे कई प्रकार की समस्याओं का सामना कर रहे थे। एक तरफ सामाजिक भेद-भाव और नस्लवाद की समस्या से जूझ रहे थे तो दूसरी तरफ समय-समय पर जो किंचित अधिकार प्राप्त हुए थे, नया-नया कानून बनाकर ब्रिटिश उपनिवेशी सरकार गोरों के शोषक-नीति का मार्ग प्रशस्त कर रही थी। इन कानूनों से एक विशेष वर्ग की जनता-जिसे गिरमिटिया कहते थे-का भयंकर शोषण होता था। भारतीयों का व्यापारी वर्ग न्यूनाधिक इस शोषण से बच जाता था। आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के लोगों के लिए ब्रिटिश उपनिवेश सरकार का कोई भी कानून उन्हें अमानवीय शोषण का माध्यम ही साबित होता था। सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के अतिरिक्त प्रवासी भारतीयों विशेषकर गिरमिटियों को सांस्कृतिक समस्याओं से भी जूझना पड़ता था। गिरमिटिया मजदूरों की समस्या जटिल तब होती थी जब गोरे मालिक एक गिरमिटिया महिला मजदूर को तीन-चार पुरूष गिरमिटिया मजदूरों के बीच रखते थे। ऊपर से शोषण और कुपोषण की शिकार तथा यौन बीमारियों से ग्रसित।

सांस्कृतिक समस्याओं के अन्तर्गत प्रवासी भारतीयों का खान-पान, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, धर्म तथा भाषा आदि समस्याओं पर विचार किया जाएगा। प्रत्येक गिरमिटिया मजदूर अपने अन्दर यह मंसूबा पालकर दक्षिण अफ्रीका गया था कि वहाँ अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा तथा अच्छी तनख्वाह मिलेगी। लेकिन जब वह वहाँ पहुँचता था तो उसे अच्छा भोजन तो दूर रहा दो समय का भोजन मिलना भी मुश्किल हो गया। उन्हें खाने के लिए उबला हुआ मक्का दिया जाता था। वह भी कभी मिलता तो कभी दोनों वक्त भूखे सोना पड़ता । भूख से लड़कों की बुरी हालत हो जाती थी- "जब तक मालिक न ले, तब तक उनके खाने-पीने का इन्तजाम एजेन्ट के जिम्मे था। फिर भी कभी एक वक्त खाना नसीब हो गया, वरना दो-दो वक्त भूखे रहना पड़ता था। बड़े मजदूर तो सह भी लेते थे पर बच्चों का रो-रोकर बुरा हाल हो जाता था। कभी-कभी किस्मत मुस्कराती थी तो क्रिस्तानी होने के कारण पादरी लोग बच्चों को खाना दे जाते थे।"[24] ईसाई पादरी केवल उन्हीं लोगों को कभी-कभी आकर खाना दे जाते

थे जो केवल किस्तानी थे। एजेन्ट केवल उतना ही खाना देता था। जितने से लोग जिन्दा रहें, फिर भी लोगों को मालिक दौड़ा कर तथा अच्छी तरह से टटोलकर ही अपने यहाँ ले जाता था।

पीटर मेरिट्जवर्ग जेल मे प्रत्येक कैदी को एक औंस चर्बी दी जाती थी। चर्बी इतनी बदबू देती थी कि खाने वाला खुद बदबू देने लगता था। सत्याग्रहियों ने चर्बी के स्थान पर पोरबन्दरी घी की माँग की। जेल अधिकारियों के इंकार करने पर रामदास सहित अनेक सत्याग्रहियों ने उपवास करना शुरू कर दिया। आखिर में सत्याग्रहियों को पोरबन्दरी घी देने के लिए अधिकारी मजबूर हो गये। कस्तूर के लिए फल की माँग की गई क्योंकि वे बीमारी में ही जेल आयी थीं। पहले तो जेल अधिकारी फल देने से इंकार कर गये लेकिन जब कस्तूर ने उपवास करना शुरू किया तब जेल अधिकारियों को मजबूर होकर फल देना पड़ा

इसी तरह टालस्टाय फार्म पर खान-पान की समस्या पैदा हुई क्योंकि हिन्दू शाकाहारी थे और मुसलमान मांसाहारी। अन्त में समझौता हुआ कि सभी लोग शाकाहारी भोजन करेंगे, साथ-साथ काम करेंगे तथा साथ-साथ खाना खायेंगें।

नेटाल उपनिवेश में भारतीयों को पगड़ी पहनना मना था इसलिए मुलमान अपने को अरबवाला बताकर पगड़ी पहनते थे। जब मोहनदास कोर्ट रूम में गया। तब मजिस्ट्रेट ने उन्हें पगड़ी उतारने के लिए कहा। लेकिन मोहन दास ने पगड़ी उतारने से इन्कार कर दिया-"मी लार्ड यह फेटा है। हम लोगों के सम्मान का प्रतीक। मेरे लिए ऐसा करना संभव नहीं।"[25] मोहनदास के लिए पगड़ी जीवन का एक हिस्सा थी इसीलिए वे पगड़ी उतारने की बनिस्बत कोर्ट से जाना उचित समझे।

गिरमिटियों से भरा एक जहाज 'रेअन की खाड़ी' में डूब गया था। खाड़ी के ऊपर एक बहुत बड़ा फार्म था। जिसका मालिक डच था। उसने खाड़ी में डूबकर मरे हुए गिरमिटियों की कुछ लाशों को निकलवा कर अपने खेतों में दफना दिया लेकिन हिन्दू कुली हिन्दूओं को जलाने के पक्ष में थे, वे मालिक को डर के कारण कुछ कह नहीं पा रहे थे। मालिक ने लाशों को इसलिए अपने खेतों में दफनाया था-

"लेकिन वे कितने मेहनती हैं। जीते हुए फसलों के लिए काम करते थे अब मरकर भी वे कई गुना बड़ा देंगे।...जिनकी मेहनत इतनी चमत्कारी उनकी हड्डियाँ कैसी होंगी।"[26] उसने गिरमिटियों को सम्मान देने के लिए नहीं दफनाया था बल्कि उसका मकसद खेतों का उत्पादन बढ़ाना था। हिन्दू या मुस्लिम रीति-रिवाजों का पालन उसके लिह महत्वपूर्ण नहीं था। महत्वपूर्ण उसका आर्थिक लाभ।

ट्रॉंसवाल सरकार ने एशियाटिक रजिस्ट्रेशन नामक कानून पास किया था जिसमें सभी एशियाइयों को दसों उँगलियों का निशान देना अनिवार्य था। उँगलियों का निशान जरायम-पेशा वालों से लिया जाता था न कि सभ्य नागरिकों से लेकिन जब मोहनदास उँगलियों के निशान देने को तैयार हुए तब मीर आलम ने मोहनदास को इसलिए मारा कि उंगलियों का निशान जरायम-पेशा वालों के लिए है। न कि भारतीयों के लिए। श्री शेतल सार्जेंट से मैला की बाल्टी ढुवाई जाती जबकि वे सत्याग्रही थे। मणिलाल ने जानवरों की तरह मुँह लगाकर बाल्टी में पानी पीने से इंकार कर दिया उसे काल कोठरी की सजा दी गयी। सत्याग्रही महिलाओं से धोबी का काम कराया जाता था। फीनिक्स वर्ग की जेल में सत्याग्रहियों को गन्दे और जूठे सुराही तथा तसला दिये गये। उसी में उन्हें पानी पीने के लिए भी बाध्य किया गया।

भारतीयों को दक्षिण अफ्रीका से निकालने के लिए सरकार अनेक प्रकार के कानून बनाया करती थी। इसी बीच सुप्रीम कोर्ट ने अपने एक फैसले में कहा "पति को पत्नी के साथ रहने का पूरा हक है लेकिन वह महिला वास्तव में उसकी पत्नी है या नही इसका पता कैसे चले? यह तभी माना जा सकता है जब विवाह का

कानूनी सबूत पेश किया जाय।...ईसाई पद्धति से सम्पन्न या रजिस्ट्रार आफिस में दर्ज शादियों के अलावा सब शादियाँ दक्षिण अफ्रीका के कानून की परिधि के बाहर समझी जाएँगी।"[27]

धार्मिक रीति-रिवाज से सम्पन्न शादी में कोई लिखित सबूत नहीं होता इसलिए उन शादियों को दक्षिण अफ्रीका की न्याय पालिका अवैध मानती थी। उस कानून के अनुसार धार्मिक रीति-रिवाज की शादी से पैदा बच्चे हरामी और औरते रखैल करार दे दी गयी थीं इसलिए कोई बच्चा अपने बाप की संपत्ति का उत्तराधिकारी नहीं बन सकता था। इस काले कानून से निपटने के लिये भारतीय प्रवासी महिलाएँ और पुरूषों ने सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया सत्याग्रहियों को जेलों में अनेक यातनाएँ दी गयीं। अंततः भारतीय विवाह-पद्धति को उचित करार दिया गया।

एशियाटिक रजिस्ट्रेशन कानून का विरोध कर रहे सत्याग्रहियों को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया जेल में सत्याग्रहियों के अपने कपड़े उतरवा लिये जाते थे उन्हें मैले-कुचैले कपड़े पहनने को दिये जाते थे। मोहनदास को जब जेल भेजा गया उस समय वे अपनी पोशाक में थे। जेल में मोहनदास को जेलर ने नामरजाद नंगा होने के लिये कहा- "मोहन दास ने एक-एक करके कपड़े उतारने शुरू कर दिये, पहले ऊपर के कपड़े उतारे, कोट, बो, कमीज, बनियान। जब पैंट पर हाथ पहुँचा तो हाथ एक मिनट के लिए ठिठका...उन्होंने जाँघियाँ उतार दिया।"[28] जेलर सत्याग्रहियों को शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का कष्ट देता था। फिर भी सत्याग्रहियों की जेल जाने की भीड़ लगी रहती थी। उनकी धार्मिक भावना को जलील किया जाता था। एशियाटिक रजिस्ट्रेशन कानून के विरोध में रूस्तमजी पारसी ट्रॉसवाल की फोक्सरस्ट जेल में छः महीने की सजा काट रहे थे। उनकी धार्मिक भावना पर आघात किया गया। प्रत्येक पारसी को पूजा करते समय सदरी और कस्ती पहनना जरूरी था लेकिन जेल में उनको सदरी और कस्ती उतारने के लिए मजबूर होना पड़ता था। ऊपर से तय की गयी खुराक भी नहीं मिलती थी। उनसे पत्थर तोड़वाया जाता था तथा अन्य प्रकार के जुल्म ढाये जाते थे। जो सामान्य आदमी के वश से बाहर था। केपटाउन से मोहनदास ने प्रो० गोखले को एक तार भेजा था उसमें सत्याग्रही कैदियों की स्थिति के बारे मे विस्तार से लिखा था-"विपत्तियाँ बढ़ीं। कैदियों को बहुत कष्ट धार्मिक भावनाओं की उपेक्षा। खाने पीने की कमी। कैदी मल-मूत्र की बाल्टियाँ ढोने के लिये बाध्य। इंकार करने पर तन्हाई की सजा। प्रमुख हिन्दू-मुसलमान पारसी भी जेल में।"[29] प्रत्येक कैदियों को गुलामों से बदतर जिंदगी जीनी पडती थी। इससे बदतर जिंदगी उन गिरमिटिया मजदूरों को जीनी पड़ती थी जो मारीशस गये थे और किसी कारण वश जेल भेज दिये गये थे। उन्हें जेलों में कटोरे के नाम पर नारियल का आधा कटा हुआ भाग दिया जाता था। उसी में वे खाना खाते और उसी में पानी भी पीते थे। कैदियों को चोट लगने पर उन्हें पेंसिलीन के नाम पर नमक मिला मलहम दिया जाता था। जिससे उनका घाव सूखने की बजाय और बढ़ जाता तथा वे मर जाते। किसी भी ब्रिटिश उपनिवेश मे भारतीयों के साथ हैवानियत का बर्ताव करना उनके प्रशासन का हिस्सा हो गया था।

गोरों को सदैव यह गलत-फहमी बनी रहती थी कि ईसाई धर्म दुनिया का सबसे श्रेष्ठ धर्म है इसी आत्मश्लाघा प्रवृत्ति के कारण वे अन्य धर्मों को हेय दृष्टि से देखते थे। ट्रॉसवाल के व्यापारी जब क्रूगर से मिलने गये तब क्रूगर ने उन्हें यह कहकर लौटा दिया - "तुम सब इस्माइल की औलाद हो इसलिए ईसू के सन्तान की गुलामी करना तुम्हारा फर्ज है। ईसू की सन्तान तुम्हें बराबर का दर्जा कैसे दे सकती है ? जितना मिला उसी मे सब्र करों।"[30] धर्मान्धता से ग्रसित गोरे उन ईसाइयों से भी घृणा करते थे जो नव धर्मान्तरित थे। गोरे अधिकारी व कर्मचारी उनके खून को गन्दा समझते थे जब लक्ष्मन राबर्ट्स और सेमुअल रिचर्ड्स ने अपने को क्रिश्चियन बताया तब पुलिस कर्मचारियों ने उनसे उनकी जाति पूछी और कहता -"तुम क्या समझते हो? क्रिश्चियन नाम

बदलने से पुलिस तुम्हारे लिए पलक पाँवड़े विछायेगी।"[31] धर्म बदलने से भी भारतीयों की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति में बहुत परिर्वतन नहीं होता था बल्कि वे अपने समाज से भी कट जाते थे।

जाति, धर्म तथा नस्ल की सीमाओं में बँधकर ही जनरल स्मट्स के कानों में गूँजता था... न्याय करो। लेकिन उसके अन्दर की नफरत और गोरी नस्ल के प्रति प्रतिबद्धता न्याय की परिभाषा को गड्डमड्ड कर देती थी।"[32] नाजियों ने भी नस्लवादी प्रवृत्ति के चलते ही यहूदियों का नरसंहार किया था। शायद इसीलिए प्रबुद्ध राजनीतिक चिंतकों ने धर्म को राजनीति से अलग रखने की सलाह दी थी। जब धर्म ही राजनीति हो जाता है तब समाज में विशृँखलता पैदा होती है।

एशियाटिक रजिस्ट्रेशन कानून के विरोध में भारतीयों ने वादा किया था कि वे उंगलियों के निशान नहीं देंगे। उंगलियों के निशान जरामय-पेशा वालों से लिया जाता था जनरल स्मट्स ने एक चतुराई पूर्ण किया कि यदि भारतीय उंगलियों के निशान दे देंगे तो वह एशियाटिक कानून खत्म कर देगा। मोहनदास और उनके मित्र उंगलियों के निशान देने जा ही रहे थे कि मीर आलम और उसके मित्रों ने मोहनदास की रास्ते में बुरी तरह से पिटाई की। डॉ० डोक मोहनदास का इलाज कर रहे थे। वे एक चर्च के पादरी थे। चर्च के सदस्य गोरे ही थे। उन्हीं से उनकी रोजी-रोटी चलती थी, वे सब कट्टरपंथी थे। मोहनदास को पनाह देने के कारण वे चर्च आना बन्द कर दिये जिससे मि डोक की आर्थिक स्थिति गडबड़ा गयी। लेकिन मिस्टर डोक धर्मान्ध न होकर मोहन दास का इलाज अच्छी तरह से किया। उन्होंने इस तथ्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया कि गोरे उनसे भी नाराज हो जाएँगे।

मि० बेकर दादा अब्दुल्ला के वकील थे। वे एक धार्मिक आदमी थे। वे मोहनदास की सर्वधर्म-समभाव की प्रवृत्ति को जानकर उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित करना चाहते थे। मि. बेकर और उनके मित्रों ने मोहनदास के लिए चर्च में प्रार्थना की - " ओ खुदा के बेटे हमारे इस नये भाई को रास्ता दिखा। उसके मन में उसी तरह शान्ति दे जैसे तू अपने बन्दों को देता है। जैसे तूने हमारी रक्षा की वैसे ही तू इसकी रक्षा कर। उसे सच्चा रास्ता दिखा... यह भटका हुआ है।"[33] मि० बेकर और उनके साथी भी ईसाई धर्म को दुनिया का सबसे पवित्र धर्म मानते थे। वे अन्य धर्मों के मानने वालों को पुराणपंथी और दकियानूसी कहते थे। मि. बेकर को पूरी आशा थी कि मोहनदास ईसाई बन जाएँगे। वह प्रिटोरिया से डरबन आता है- "गाँधी तुमने क्या तय किया ? कोटस, मिस हैरिस, मिस गैब आदि सभी मित्रों ने तुम्हारे लिए रात-दिन प्रार्थना की जीसस ने हमारे इस नये साथी को तू अपनी शरण मे ले ले। इसके गुनाहों को साफ कर दे। तुमने तो खुद जीसस को इतना पढ़ा और समझा है।"[34] धर्म आदमी की सीमाओं को कैसे निश्चित कर देता है। इसका उदाहरण मि० बेकर तथा उनके अन्य साथी हैं। जो गाँधी की कण्ठी को तो दकियानूसी और पुराणपंथी का प्रतीक मानते हैं और स्वयं ईसा को सभी पापों का उद्धारक।

प्रवासी भारतीयों की अनेक समस्याओं में भाषा की समस्या भी प्रमुख थी। गिरमिटिया तथा मालिक अलग-अलग भाषा बोलते थे जिसके कारण कभी-कभी कोई बात न समझ पाने के कारण मालिक गिरमिटियों की जम कर पिटाई भी कर देते थे। एक गिरमिटिया के मुकदमे का ठीक से सुनवाई इसलिए नहीं हो पायी कि उसकी भाषा न मिडियेटर समझ पाया न न्यायाधीश। गिरमिटिया मजदूर भी अलग-अलग भाषा बोलते थे। एक तमिल भाषी गिरमिटिया, हिन्दी भाषी गिरमिटिया की बात नहीं समझ पाता था। फिर भी वे लोग आपस में हाव-भाव के द्वारा एक दूसरे की बातों को समझ लेते थे इस प्रकार प्रवासी भारतीयों ने प्रवास के जिन समस्याओं का सामना किया था उन समस्याओं

को उपन्यासकार ने उपन्यास में बड़ी संजीदगी के साथ अभिव्यक्त किया है। उपन्यासकार ने 'नस्लवाद' की समस्या का अमानवीय रूप प्रस्तुत किया है। नस्लवाद भारतीयों के शोषण का प्रमुख कारण था। रक्त शुद्धता की प्रवृत्ति मनुष्य को घोर अमानवीय बना देती है। इसी प्रवृति के कारण दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों को दोयम दर्जे की जिंदगी जीनी पड़ती थी। उनको 'कुली' के नाम से पुकारा जाता था। गिरमिटियों से काम अधिक लिया जाता था, भोजन कम दिया जाता था। जिसके कारण वे सब कुपोषण के शिकार हो जाते थे। उनको रहने के लिए काबकनुमा घर मिलता था जो घास-फूस से छाया रहता था। घर के अन्दर मोरी रहती थी। उसी पर बैठकर स्नान करते थे। मोरी बदबू से भरी रहती थी।

भारतीयों को कोई राजनीतिक अधिकार नहीं प्राप्त था जो न्यूनाधिक अधिकर प्राप्त था उसे सरकार आये दिन नया-नया कानून बना कर खत्म करने की कोशिश करती थी। तीन पौण्डिया पोलटैक्स, मताधिकार, एशियाटिक रजिस्ट्रेशन बिल आदि सभी कानून भारतीयों को विशेष तौर से गिरमिटियों को भगाने की साजिश के तहत लाए गये थे।

प्रवासी भारतीयो की धार्मिक भावना को आहत किया जाता था। उनको जेल में पाखाना साफ करना पड़ता था। जेल में तरह-तरह के कष्ट दिये जाते थे। पुरूषों को पत्थर तोड़ने का काम तथा महिलाओं को धोबी का काम दिया जाता था। कैदियों को ऐसा भोजन दिया जाता था। जिसको जानवर भी न खाते।

इन सभी समस्याओं को उपन्यासकार ने अपनी संवेदना और कल्पना के द्वारा ऐसे ढंग से उपन्यास में प्रस्तुत किया है कि मालूम ही नहीं पड़ता कि लेखक ने कल्पना का सहारा लिया है। घटनाओं को कल्पना से रंजितकर पठनीय बना दिया है। जिससे 'यथार्थ का भान होता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1	गिरिराज किशोर	पहला गिरमिटिया	पृ०.36
2	वही	"	पृ०. 102
3	वही	"	पृ०. 176
4	वही	"	पृ०. 39
5	वही	"	प०.295
6	वही	"	पृ०.292
7	वही	"	पृ०370
8	वही	"	पृ०. 371
9	वही	"	पृ०.372

10	वही	"	पृ०.373
11	वही	"	"
12	महात्मा गाँधी	हिन्द स्वराज	पृ०.39-41
13	वही	"	पृ०.18
14	गिरिराज किशोर	पहला गिरमिटिया	पृ०.374
15	वही	"	पृ०.262
16	वही	"	पृ०. 263
17	वही	"	पृ०. 228
18	वही	"	पृ०.237
19	वही	"	पृ०.377
20	वही	"	पृ०.633
21	वही	"	पृ०.719
22	वही	"	पृ० 810
23	वही	"	पृ०. 859
24	वही	"	पृ०32
25	वही	"	पृ०75
26	वही	"	पृ०.51
27	वही	"	पृ०.803
28	वही	"	पृ०677
29	वही	"	पृ०750
30	वही	"	पृ०. 176
31	वही	"	पृ०.348
32	वही	"	पृ०.866
33	वही	"	पृ०.137
34	वही	"	पृ०.338

चतुर्थ अध्याय
पहला गिरमिटिया का वैशिष्ट्य

किसी कृति में उसके वस्तु और रूप का घनिष्ठ संबंध होता है। वस्तु से अलग रूप की कल्पना नहीं की जा सकती। रूप के बिना वस्तु की अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती। रूप, वस्तु को अनुक्रमित करता है। वस्तु रूप की सीमा निर्धारित करती है। वस्तु और रूप मिलकर किसी रचना का निर्माण करते हैं। रचना पाठक के सामने होती है। पाठक रचना को पढ़ने के बाद उसके अंश और ब्यौरों को अपनी स्मृति में उतारता है। तत्पश्चात रचना के वैशिष्ट्य को उद्घाटित करता है।

रचनाकार अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिये उचित रूप की तलाश करता है। अनुभूति को रूप में अभिव्यक्त करते समय रचनाकार कई पड़ावों से गुजरता है- भाषा, शैली आदि। रचना की प्रक्रिया, रचना का ढाँचा तैयार करती है। रचना के ढाँचे को 'शिल्प' कहा जाता है। इसके लिए अंग्रेजी में 'टेकनीक' (Technique), 'क्राफ्ट' (Craft), 'फॉर्म' (Form) तथा 'स्ट्रक्चर' (Structure) आदि शब्द प्रयोग किये जाते हैं।

शिल्प को 'टेकनीक' के पर्यायवाची या अनुवाद के रूप में स्वीकार किया जाता है। 'टेकनीक' शब्द रचना-प्रक्रिया को ही ध्वनित करता है। डॉ० नगेन्द्र द्वारा संपादित 'मानविकी पारिभाषिक कोश' (साहित्यिक कोश) में 'टेकनीक' शब्द क्रिया-पद्धति की ओर संकेत करता है -"किसी भी कला में प्रविधि का तात्पर्य कलात्मक निष्पादन की विधि से है। अर्थात् किसी कृति के विविध अवयवों और ब्यौरों को गुम्फित करने की कुशल पद्धति से है।"[1] अवयवों और ब्यौरों का मतलब, रूप के अनुरूप कथ्य का संयोजन है। शिल्प के साथ-साथ शैली और भाषा की भी चर्चा की जाती है। शैली और भाषा, शिल्प के अभिन्न अंग हैं । इनका संबंध व्यक्ति की निजी विशेषताओं की अपेक्षा उसकी कार्य-पद्धति, क्रिया-व्यापारों और रचना-कौशल से अधिक संबंधित है। रचनाकार कृति के कथ्य को इन्हीं अवयवों के अंतर्गत बुनता है। उसकी सफलता इस बात में है कि वह कथ्य को कितना सहज और संप्रेषणीय बना सका है।

औपन्यासिक कला

गिरिराज किशोर ने 'पहला गिरमिटिया' के माध्यम से दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष कर रहे गिरमिटिया मजदूरों की इतिहास-प्रसिद्ध घटना को उपन्यास का विषय बनाया है। यह एक सराहनीय और चुनौती भरा कार्य है। सराहनीय इसलिए कि 21-22 वर्षों की

अवधि की घटनाओं को उपन्यास का विषय बनाया गया है। और चुनौती भरा इसलिए कि तथ्यों के तोड़-मरोड़ के बिना (कुछ अपवादों को छोड़कर) एक संवेदनात्मक संप्रेषणीय कृति की रचना की गई है।

उपन्यासकार ने जिस खूबसूरती के साथ गिरमिटियों के सपनों, आकांक्षाओं और इच्छाओं का वर्णन किया है, वह उसकी औपन्यासिक कला का प्रमाण है। उपन्यास के शुरू में ही गोरों के सपनों का कैसा सुन्दर वर्णन गिरिराज किशोर ने किया है, एक उदाहरण देखें

''गोरों के सपने थे।

गोरे जब दूसरे देशों को घेरते थे तो अपने सपने साथ ले जाते थे। सबसे पहला काम होता था वतनी लोगों के सपनों को बिन-बिनकर उकेरना और उनकी जगह अपने सपनों को रोपना। धरती वतनी लोगों की थी। सपने गोरों के थे।''[2]

उपन्यासकार ने कुछ ही वाक्यों में गोरों की शोषक नीति, उनके उद्देश्य और स्थानीय लोगों की दुर्गति का बड़े सटीक ढंग से वर्णन किया है। पाठक को उपन्यास के आरम्भ में यह सूचना मिल जाती है कि अंग्रेजों की औपनिवेशिक नीति वतनी लोगों के लिए तथा प्रवासी व्यक्तियों के लिए कितनी घातक होती है।

'पहला गिरमिटिया' का कथाक्रम दो भागों में बँटा दिखाई देता है। उपन्यास के पूर्वार्द्ध में दक्षिण अफ्रीका के उन सभी परिचित, अर्द्धपरिचित तथा अपरिचित चेहरों को, जिनका वर्णन गाँधी जी ने खुद अपनी पुस्तकों और लेखों में किया है- उपन्यासकार ने अपनी कल्पनात्मक संवेदना का पुट देकर जीवन्त बना दिया है। गिरिराज किशोर ने कथावस्तु में तोड़-मरोड़ के संभावित आरोपों से बचने के लिए किसी चरित्र और घटना का वर्णन छोड़ा नहीं है। वे चिट्ठी-पत्री तथा अख़बार के कार्टून तक का विस्तृत वर्णन देते हैं। लेकिन उन यात्रियों को कथावस्तु के उत्कर्ष में कोई भूमिका प्रदान नहीं करते, जो मोहनदास की रेलयात्रा के समय रेल के डिब्बे में संयोग वश मिलते रहे थे।

उपन्यास के उत्तरार्द्ध भाग का कथाक्रम अपने सुगठित संयोजन के बावजूद बिखरता हुआ प्रतीत होता है। कनक तिवारी के अनुसार - ''यह ठीक उस समाचार वाचक की तरह का अनुभव है। जो शुरु के आधे समाचारो को तो धीमी गति से पढ़ता है, लेकिन बाद में समय की कमी का खतरा भाँपते हुए इतनी तेज गति से खबरों का

वाचन करता है कि बस औपचारिकता भर पूरी होती है। समाचार तो ज्ञात होते हैं लेकिन, वाचन की वर्णनात्मक कलात्मकता के बगैर गिरिराज किशोर के मोहनदास इसी औपचारिकता में फँस जाते हैं।'[3] गिरिराज किशोर के मोहनदास ही इतिवृत्तात्मकता के शिकार नहीं होते बल्कि दक्षिण अफ्रीका के गिरमिटियों का निर्णायक संघर्ष एक नीरस वर्णन बनकर रह जाता है।

महात्मा गाँधी ने 'दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह इतिहास' 26 नवम्बर, 1923 ई० से लिखना शुरु किया था। उस समय वे यरवदा सेंट्रल जेल में सज़ा काट रहे थे। 5 फरवरी, 1924 तक गाँधी जी इस इतिहास का तीस अध्याय लिख चुके थे। इस पुस्तक में गाँधी का पहली बार दक्षिण अफ्रीका से भारत आने की घटना को मात्र दस पृष्ठों में लिखा गया है। इतनी सी कथा को कहने के लिए गिरिराज किशोर ने उपन्यास का एक तिहाई भाग खर्च कर दिया है। यदि इसी कथा को उपन्यासकार शुरु से संक्षेप में लिखता तो गिरमिटियों के महत्वपूर्ण आन्दोलनों तथा गाँधी जी की मूल अवधारणात्मक पुस्तक 'हिन्द-स्वराज' का मूल्यांकन ज्यादा गहराई से कर सकता था। 'हिन्द-स्वराज' की मूल अवधारणाएँ गाँधी जी के भारत आने (1915 ई०) के बाद भी उनके जीवन के अन्त तक जुड़ी रहीं। सन् 1909 ई० से 1915 ई० तक की अवधि की घटनाओं को मात्र उपन्यास के डेढ़ सौ पृष्ठों में निपटा देना, कुछ अजीब लगता है।

गिरिराज किशोर ने उपन्यास के जिन प्रसंगो को अपनी कल्पना से रचा है, वे प्रसंग उपन्यास में बड़े रोचक और भाव प्रवण हैं। उपन्यासकार ने उपन्यास की भूमिका में कुछ काल्पनिक प्रसंगों की चर्चा की है। जिनमें टॉलस्टॉय फार्म पर मोहनदास का दंड देने के उद्देश्य से दो लड़कियों का बाल काटना, प्रिटोरिया की मेटिल्डा जिसके यहां मोहनदास पेइंगेस्ट के रूप में कुछ दिन रुके थे और फ्रांसीसी व्यापारी मार्शल लेड्यू, जिसको मोहनदास से सदैव एलर्जी रहती थी। इन चरित्रों को उनके रूप, गुण और व्यवहार के आधार पर चित्रित करने में उपन्यासकार सफल रहा है।

इसी तरह उपन्यास में मोहनदास का मिस्टर स्पेंन्सर वाल्टन और उनकी पत्नी से ईसाइयत को लेकर हुई बातचीत और लक्ष्मण राबर्ट्स तथा सेम्युअल रिचर्ड्स नामक दो भारतीय मूल के ईसाई युवकों की पुलिस द्वारा पिटाई का प्रसंग गाँधी वांङ्मय पर सरसरी नज़र डालने पर दिखाई नहीं पड़ता है। उपन्यासकार ने उपन्यास में इन काल्पनिक प्रसंगों को लाकर रचना को मार्मिक और जीवन्त बनाया है । जिस तरह रचनाकार ने प्रारम्भिक

गिरमिटियों के सपनों, आकांक्षाओं और उन आकांक्षाओं की वास्तविकता को प्रस्तुत किया है, वह बेमिसाल है। 1860 ई० में गिरमिटियों की पहली खेप दक्षिण अफ्रीका पहुँची थी। गिरिराज किशोर ने वहां के वातावरण का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है- ''जब मालिक इस तरह कुली खरीदकर ले जाते थे तो वे अच्छी तरह ठोंक बजाकर देखते थे। घोड़े की तरह दुलकी चलाकर, दौड़ाकर, सामान लदवाकर यहाँ तक कि मुंह खुलवाकर दाँत गिनते थे। उसके मसल्स दबाते थे। पैरों पर चोट करके यह देखते थे कि उसमें कितनी बर्दाश्त है। किसी कुली के पसंद होते ही सब तरफ सन्नाटा-सा व्याप्त हो जाता था। लोगों की आँखों में जो चमक उभरती थी वह धीरे-धीरे बुझे दिये की तरह, धुएँ की लौ से ढक जाती थी। उस घड़ी को कोसने लगते थे, जब उन्होंने एजेण्टों के बहकावे में आकर अपना देश छोड़ा।''[4]

गिरमिटियों के सपने, उन सपनों का बिखराव, अमर्शता, कृशता और मलीनता को उपन्यासकार ने कल्पनात्मक संवेदना देकर एक ऐसा यथार्थ वातावरण तैयार किया है कि पाठक कल्पित दृश्य को यथार्थ मानने से इंकार नहीं कर पाता है। स्थान, काल और पात्र के माध्यम से रचनाकार एक ऐसे वातावरण का सृजन करता है जिससे उसकी कल्पना पर रहस्यात्मक पर्दा पड़ सके। गिरिराज किशोर ने ऐसे अनेक कल्पित प्रसंगों के द्वारा यथार्थ वातावरण का सृजन कर उपन्यास को रोचक बनाया है।

चरित्र चित्रण

किसी उपन्यासकार की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसने उपन्यास के पात्रों को किस प्रकार से चित्रित्र किया है। पात्र उपन्यास के महत्वपूर्ण अंग होते हैं। पात्रों की चर्चा किये बिना उपन्यास का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता। रचनाकार जिस पात्र का निर्माण करता है, उसके प्रति कुछ न कुछ सहानुभूति जरूर रखता है। पात्र के प्रति रचनाकार की सहानुभूति रचना को कमजोर भी बना देती है। रचना में पात्र का वास्तविक स्वरूप चित्रित होने पर पठनीयता बाधित होती है। गिरिराज किशोर इस मायने में सौभाग्यशाली हैं कि उन्होंने मोहनदास के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी उपन्यास की पठनीयता (कुछ अपवादों को छोड़कर) बनाये रखी है।

'पहला गिरमिटिया' में उपन्यासकार ने एक सौ बावन से अधिक चरित्रों का वर्णन किया है, जिसमें निम्नवत चरित्र हैं -मोहनदास कर्मचन्द गाँधी, कस्तूरबा, दादा अब्दुल्ला, भाई लक्ष्मीदास, शेख महताब, तैयब सेठ, मणिलाल, गोकुलदास, रामदास, देवदास, पुलिस

कप्तान, अलेक्जेण्डर, मेटिण्डा, जॉन मिलर खेतिहर, डॉ० जॉनसन, बायरन, डिक्सन, जहाजी डॉक्टर, शेख इब्राहिम, साराह, रिचल, कैप्टन बीशन, क्राम्पटन, डच मेन, कोचवान, नेटाली एजेण्ट एडमण्ड, फिलिप एरन, देवाराम, नगियम, कुबे एलिजाबेथ, एस्साक, याकू, मुडेंर सीबा, करन पिल्ले, मेसर्स कुक, जावेरी भाई, मि० कोट्स, रमाबाई, क्रूगर, डॉ० क्राउजे, अबुबकर, रेवरेण्ड एण्ड्रू , मि० बेकर, उका, चिजो ऐन्सटीन, लार्ड रिपन, फार्गुसन, बालगंगाधर तिलक, पाल नाइट, कालीचरण बनर्जी, सर गुरुदास बनर्जी, केवल राम दवे, हेडमास्टर जोजुफ, मि० अंगालिया, सेठ दाउद मोहम्मद, कमरुद्दीन सेठ, आदमजी मियांखान, सी लक्ष्मीराव, रंगास्वामी, आदमजीवा, रलियत बहन, पीठासीन अधिकारी करसन, कबा गाँधी, ओता गाँधी, मि० हैरिस, मिसगैब, मि०फ्रेंकलिन, सरजार्ज ग्रे, मि० जानस्टन, मि० गैलेण्ड, क्लर्क लॉरेंस, मि०मेसन, सर हेनरी, लक्ष्मण रार्बट्स, सेम्यूअल रिचर्ड्स, जनरल बेब, असगरा, मूसा, सर फिरोजशाह मेहता, मि० कामा, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, राजा सर प्यारे मोहन मुखर्जी, महाराजा जतीन्द्रनाथ टैगोर, सं० पाल नाइट, मि० सॉडर्स, डॉ० मैकेन्जी, स्प्रेड वॉ, निन्सेण्ट, सारा जेने, रायचन्द्र, जनरल बुडगेट, प्रभुसिहं , कप्तान टी० पी० गुर्ची, अहमद गुलाम मोहम्मद, गवर्नर मि० ब्रूस, मि० दिनशावाचा, सीतलवाद, अमृत बाजार पत्रिका के संपादक बाबू मोती लाल घोष, भूपेन्द्र नाथ बसु, बाबू काली चरण बनर्जी, जस्टिस मित्रा, सर गुरुदास बनर्जी, मगनलाल गाँधी, मिस डिक, मैक्डोनाल्ड, सोजांश्लेषिन,टोंगाट, मि० वेस्ट, डिक का पति मैके, कैप्टन ड्रे, कर्नल आरनॉट, डॉ० किलफर्ड, लार्ड एल्गिन, लार्ड मोरले, दादा भाई नैरोजी, अहमद कछालिया, थाम्बी नायडू, मीर आलम, ब्रेण्डिस स्क्वेयरे, जनरल स्मट्स, पी० के० नायडू, हाजी हबीब, जमशेद जी टाटा, श्री शेतल सार्जेण्ट, फकीर सामी नायडू, लुटावन, जैकी, जस्टिस रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले, जस्टिस सरले, कैलेनवेग, पोलक, हरबत सिह, जनरल ल्यूकिन, फादर पीयरसन, लार्ड हार्डिंग, एंड्रूज, लार्ड ग्लेंडस्टन, डॉ० प्राण जीवन मेहता, इवान्स, मोरबुड, कैम्पबेल, बालासुन्दरम, मि० ब्राउन, बलीअम्मा आदि। पात्रों की अधिकता, घटनाओं की बहुलता और लेखकीय कौशल मिलकर उपन्यास को महाकाव्यात्मक स्वरूप प्रदान करते है।

उपन्यास में वर्णित पात्र मोहनदास के बारे में गिरिराज किशोर ने भूमिका में लिखा है- ''इस उपन्यास का मुख्य पात्र मोहनदास उतना ही सामान्य व्यक्ति है जितना कोई (और भी) होता है। वह न चाँदी का जूता पहनकर पैदा हुआ और न सोने का मुकुट। पत्नी के जेवर बेचकर लंदन 'बार एट ला' करने गया था। पिता मर चुके थे,

चाचा ने बहाना बनाकर अंगूठा दिखा दिया। बड़े भाई की सीमित सामर्थ्य थी। जब बैरिस्टर बनकर लौटा तो बेरोजगारी का आलम। बड़े भाई पर निर्भरता। कचहरी की अनैतिकताओं और व्यक्तिगत नैतिक मूल्यों के बीच टकराव। बोल न पाने के कारण मुकदमों में हार। जो भी मिलता बड़े भाई के वकील दोस्तों के मुवक्किलों की मसौदानबीसी में। उसका भी एक हिस्सा वकील लेता था। शोषण का यह ढ़ंग मोहनदास को बेचैन रखता था। नतीजा देश के हजारों गरीब, अनपढ़, बेरोजगार मजदूरों की तरह उस बैरिस्टर को भी रोजी रोटी कमाने के लिए एक साल के गिरमिट पर दक्षिण अफ्रीका के लिए कूच करना पड़ा।''[5] उपन्यासकार मोहनदास को हरचन्द मनुष्य बनाये रखने की कोशिश करता है। वह उसे 'मोहनिया', 'मोहनदास' और 'गाँधी' आदि नामों से संबोधित करता है। वह गिरमिटियों के लिए गाँधी भाई और गोरों के लिए चालाक लोमड़ी साबित होता है। वह गिरमिटियों के लिए लंगोटी और गंजी पहनना शुरु करता है। जेल में उन्हीं की तरह रहता है । ये सब रेखाचित्र गिरिराज किशोर ने मोहनदास के मनुष्य रूप को दिखाने के लिए खींचा है। लेकिन अंततः वे मोहनदास को देवता (भूलवश) बना ही डालते हैं- ''सब लोगों में यह खबर फैल गयी। गॉधी भाई आ गये। तरह-तरह की बातें प्रचारित होने लगी। गॉधी भाई आकाश मार्ग से यहॉ से पहुँच गये। किसी ने कहा, गाँधी भाई गये ही कहां थे। वे ता यहॉ मौजूद थे। मजिस्ट्रेट के साथ तो उनकी छाया गयी थी।'[6] और ''कुछ लोग ऐसे भी थे जो पैसा जमीन में गाड़कर भूल गये कि पैसा किस जगह गाड़ा था। या जिसने गाड़ा था वह मर खप गया था। सिर्फ इतना ही पता था कि घर में पैसा गड़ा है। वे रोते-कलपते मोहनदास के पास आये और यही कहते रहे उनका पैसा जमीन निगल गयी। आप चलिये, आपके छूने से धरती माई जरूर वापस कर देंगी।''[7] एक तरफ संघर्षशील मोहनदास का चरित्र दिखाई पड़ता है जो भारतीय गिरमिटियों के अधिकार के लिए दक्षिण अफ्रीका की उपनिवेशी सरकार से संघर्ष तथा गिरमिटियों की मरी हुई चेतना को धीरे-धीरे जागृत करता है। दूसरी तरफ मोहनदास की उस पौराणिक छवि को चित्रित किया गया है जिसमें वह अलौकिक कारनामें करने वाला व्यक्ति और जादूगर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। श्रद्धापूर्वक किसी चरित्र का निर्माण करने से ऐसे चरित्र का निर्माण होना स्वाभाविक है।

गाँधी जी 'सत्य के मेरे प्रयोग' में अपने व्यक्तित्व के कामुक पहलू का वर्णन बड़े बेबाक ढंग से करते हैं। वे अपनी कामुकता के लिए स्वयं को जिम्मेदार ठहराते हैं। जबकि उपन्यासकार को यह पहलू इतना असहज लगा कि मोहनदास के साथ-साथ वह

कस्तूरबा को भी उत्तरदायी ठहराता है। गाँधी जी ने आत्मकथा में अपनी वासना-लिप्तता पर टिप्पणी की है - ''यद्यपि रोज रात को मैं पिताजी के पैर तो दबाता था, लेकिन उस समय मेरा मन शयन गृह की ओर भटकता रहता था, और सो भी ऐसे समय जब स्त्री का संग धर्मशास्त्र, वैद्यक-शास्त्र और व्यवहार-शास्त्र के अनुसार त्याज्य था। . . . . . अवसान की घोर रात्रि समीप आयी। . . . . . रात के साढ़े दस या ग्यारह बजे होंगे। मैं पैर दबा रहा था। चाचा जी ने मुझसे कहा: ''जा अब मैं बैठूंगा।'' मैं खुश हुआ और सीधा शयन-गृह में पहुंचा। पत्नी तो बेचारी गहरी नींद में थी। पर मैं सोने कैसे देता? मैंने उसे जगाया।''[8]

इसी घटना को उपन्यासकार ने कस्तूरबा के माध्यम से इस प्रकार कहा है- ''हरि के बापू पाँव दबा रहे थे। दीवान चाचा आये और बोले मोहनिया, तू जा बहू अकेली रहेगी, भइया के पास मैं बैठता हूँ। वैसे शायद वे बापू को छोड़कर न जाते, लेकिन उस दिन उनका मन डाँवा-डोल रहा होगा। वे उठे और सीधे कस्तूर के पास . . . इतना आक्रामक क्षण पहले कभी नहीं आया था। दोनों ही एक दूसरे में डूबे हुए थे।''[9] उपरोक्त प्रसंग में गाँधी जहाँ अपनी कामुकता को दोषी ठहराते हैं वहीं उपन्यासकार ने 'उस दिन उसका भी मन डाँवा-डोल रहा होगा।' और 'दोनों एक दूसरे में डूबे हुए थे,' जैसी उद्घोषणा करके कस्तूरबा को भी शामिल कर लेता है।

गिरिराज किशोर ने उपन्यास में मोहनदास के तत्कालीन भाषणों तथा अखबारों के कार्टून तक को सम्मिलित किया है। लेकिन यदि वे मोहनदास का सही चरित्र निर्माण करना चाहते तो उन्हें मोहनदास के अध्ययन काल में लंदन -प्रवास के समय लिखी गयी लम्बी-लम्बी चिट्ठियों की तफसील गहराई के साथ करना चाहिए था। वे चिट्ठियां मोहनदास के नितांत निजी अनुभवों की नागमणियां हैं। जिन पर से जनश्रुत गाँधी की केंचुल उतरती रही। चिड़चिड़े, जिद्दी, अड़ियल और सनकी गाँधी की छवि मोहनदास के मनुष्योचित आचरण का सही चित्र नहीं खींचती है। उपन्यासकार को मोहनदास के इस रूप को भी (काव्यात्मक रूप में ही सही) उपन्यास में दिखाना चाहिए था।

मोहनदास के साथ कस्तूरबा का चरित्र एक त्यागमयी, सत्याग्रही, पतिपरायणा, भारतीय महिला के रूप में चित्रित किया गया है।

इसी तरह मोहनदास के समान अनेक गिरमिटिया पात्रों का भी चित्रण हुआ है। जिन्होंने अपने प्राणों की आहुति देकर दक्षिण अफ्रीका की उपनिवेशी सरकार के काले

कारनामों का विरोध किया था। ऐसे चरित्रों में वलियम्मा मुदालियर, हरबत सिंह और श्री शेतल साजेण्ट का नाम लिया जा सकता है। वलियम्मा मुदालियर एक सत्याग्रही थी जिसने अपने प्राण जेल की सजा काटते-काटते त्याग दिया था- ''वलियम्मा मुदालियर जोहान्सबर्ग से आयी थी। सोलह साल की लड़की। लम्बा कद , बड़ी-बड़ी ऑखें, उसको देखने मात्र से मन भर सुख मिलता था। जेल में ही उसे बुखार आने लगा। जब बुखार नहीं छुटा तो उसे ही जेल से छोड़ दिया गया ..... कुछ दिन बाद वलियम्मा ईश्वर के पास चली गयी। सब जगह शोक व्याप्त हो गया।''[10] ऐसे देश भक्तों और समाज सेवियों में एक कुली हरबत सिंह भी था - ''एक दिन हरबत सिंह के नाम का एक सत्याग्रही पकड़कर लाया गया। वह खान में काम करता था। एक साल पहले ही गिरमिट से छूटा था। वह हड़ताली न होकर सत्याग्रही था। मोहनदास की गिरफ्तारी की खबर फैलते ही जिन लोंगो ने ट्रांसवाल से प्रवेश करके खुली गिरफ्तारी दी थी उनमें हरबत सिंह भी था। सत्तर साल का बूढ़ा ..... हरबत सिंह जेल तो जेल जिंदगी के बंधनों से फुर्र से उड़ गया।[11]

पहली बार इन गिरमिटियों ने संगठित होकर अपने अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी। इस लड़ाई में अनेक गिरमिटियों को अपने प्राण न्यौछावर करने पड़े। वलियम्मा मुदालियर, हरबत सिंह और शेतल सार्जेंट ऐसे गिरमिटियों में थे जिन्होंने अपना घर-बार छोड़कर और जमीन बेचकर सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लिया था। उपन्यासकार ने इन पात्रों का चरित्र निर्माण करने में काफी हद तक सफलता पाई है।

नाटकीय संवाद

गिरिराज किशोर कथाकार के साथ-साथ एक नाटककार भी हैं इसलिए उनके उपन्यासों में नाटकीय संवाद आना स्वाभाविक है। उपन्यास में नाटकीय संवादों का भरपूर उपयोग किया गया है-

''तुम जेल क्यों गये?'

'आपकी गिरफ्तारी के विराध में।'

'लेकिन मैंने तुम जैसे वयोवृद्ध साथियों का आवाहन तो नहीं किया था।'

'जब आप, आपकी पत्नी, आपके बच्चे सब जेल चले गये तो मैं बाहर क्या करता?... मेरा तो एक छोटा सा खेत था। मेरा बस चलता तो मैं उस खेत से भी कहता चल तू भी चल... ।''[12]

उपन्यासकार ने उपन्यास में इस तरह के अनेक प्रसंगो को लाकर उसे इतना पठनीय, रोचक और प्रवण बना दिया है कि पाठक मुद्रण और उपन्यासकार की अनेक त्रुटियों को नजर अंदाज कर जाता है। लेकिन जब गिरिराज किशोर बार-बार घटनाओं और तिथियों के बारे में प्रामाणिक होने का दावा करते हैं तो यह बात कुछ अटपटी लगती है। उपन्यास में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं जिनकी प्रामाणिकता और तिथियों का अनुक्रम यदि पाठक बैठाना चाहे तो उसके हाथ कुछ नहीं लगेगा।

कई जगह तिथियों को लेकर काफी भ्रम पैदा होता है। गाँधी के तीसरे पुत्र का जन्म दक्षिण अफ्रीका में हुआ था। परन्तु उसके जन्म के दो वर्ष पूर्व ही मोहनदास राजकोट में उसे अपने घुटने पर बैठाये थे- ''मोहनदास ने तीनों को बाहों में ले लिया। हरिलाल घुटनों के बीच में था, मनि और रामदास एक-एक घुटने पर। ''[13] इसी तरह दक्षिण अफ्रीका से लौटते हुए कस्तूरबा और गाँधी को बार-बार यह कहते हुए दिखाया गया है कि परिवार ने दक्षिण अफ्रीका में एक साल गुजारा है - ''एक ही साल के लिए लाना था तो क्यों लाये थे? जिंदगी भर तो राजकोट रहे..... वहाँ रह ही रहे थे! क्या साल भर और नहीं काट सकते थे?।''[14] दक्षिण अफ्रीका में मोहनदास और कस्तूरबा करीब चार साल गुजारे थे तभी रामदास और देवदास भी पैदा हुए थे।

इसी तरह अनेक प्रसंग हैं जो तिथियों के क्रम में खरे नहीं उतरते हैं। यथा मोहनदास का मार्शल लेड्यू से फ्रांस की प्रदर्शनी की बात करना जो 1890 ई० में बताया है।

सन् 1896 में मोहनदास गिरमिटियों की समस्याओं से भारतीयों को अवगत कराने तथा उपनिवेशी सरकार के काले कानूनों के खिलाफ समर्थन जुटाने के लिए दक्षिण अफ्रीका से भारत आये थे। वे जनसभाओं की सफलता को देखकर इतने अभिभूत हुए कि उन्होंने हिन्दू अखबार में एक आभार संदेश छपवाया। इसकी तिथि 27 अक्टूबर, 1886 ई० होनी चाहिए। उपन्यास की प्रामाणिकता का आग्रह सृजनात्मकता को गौण बना देता है। उपन्यास एक जिन्दगी है न कि इतिहास।

भाषा

भाषा किसी भी साहित्यिक विद्या का अनिवार्य अंग है । भाषा में माध्यम से रचनाकार अपने अनुभवों को रचना में अभिव्यक्त करता है। भाषा किसी रचना को सजीव और प्रभावोत्पादक बनाने में अहम भूमिका अदा करती है। रचना में भाषा के महत्व को रेखांकित करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है- ''इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास की रचना शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम शब्दों का गोरखधंधा रचकर पाठक को इस भ्रम में डाल दे कि इसमें जरूर कोई न कोई गूढ़ आशय है। जिस तरह किसी आदमी का ठाठ-बाट देखकर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में गलत राय कायम कर लिया करते हैं। उसी तरह उपन्यासों के शाब्दिक आडम्बर देखकर भी ख्याल करने लगते हैं कि कोई महत्वपूर्ण बात छिपी हुई है। संभव है ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाये, किन्तु जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है, जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।''[19] कोई भी रचना सजीव और प्रभावोत्पादक तभी होती है जब शब्दिक आडम्बर के बजाय भाषा सरल, व्यवहारिक और मुहावरेदार होती है। अलंकारिक और वागजालिक भाषा के द्वारा बौद्धिक विलास हो सकता है किन्तु जीवन की जटिलताओं की व्याख्या नहीं। उपन्यास चूंकि जीवन को संपूर्णता में देखने की कोशिश करता है, इसलिए उसकी भाषा सरल, आमफहम और मुहावरेदार होनी चाहिए न कि लाक्षणिक। उपन्यास में स्वाभाविकता, संप्रेषणीयता तथा प्रभावोत्पादकता के लिए पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग होना चाहिए।

पहला गिरमिटिया में भाषा न तो ज्यादा क्लिष्ट है न एकदम सपाट बयानी है। उपन्यास के शुरू से अन्त तक भाषा ताजगी भरी आमफहम हिन्दुस्तानी उर्दू के निहायत मौजू शब्दों के उदार प्रयोग, मुहावरेदार तथा लोकोक्तियों से युक्त है। उपन्यासकार ने उपन्यास की पठनीयता को बनाये रखने के लिए उर्दू, हिन्दी, अवधी, भोजपुरी, फारसी तथा अँग्रेजी मिश्रित हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया है। जिससे उपन्यास में रोचकता और स्वाभाविकता आ गयी है। पात्र और परिवेशानुकूल भाषा का प्रयोग उपन्यास की कलात्मकता को बढ़ाता है। कस्तूर को अँग्रेजी नहीं आती थी। वे मिली से कस्तूरबाई अँग्रेजी में पूछती थी - ''ह्वाट मैटर मिली, ह्वाट फार पोलक क्रास?''

अँग्रेजी वाक्य जो आज बोल-चाल में खूब प्रयुक्त होते हैं उनकी झलक इस रचना में भी विद्यमान है। ऐसे वाक्य रचना की स्वाभाविकता को दर्शाते हैं। यह परिवेश के अनुसार भाषा का चुनाव है। ऐसे कुछ उदाहरण देखें -

'व्हाई आल दिस रविश इज हियर!' (पृ० 257)

'ही इज ए डिफिकल्ट मैन!' (पृ० 257)

'राइट आफ बोट' (पृ० 257)

'यू आर अवर ऑनर्ड गेस्ट' (पृ० 504)

'कान्स्टीट्यूशनल मेथेड ऑफ एचीविंग द गोल इन...

द सेफस्ट वे ऑन देयर पार्ट'(पृ० 511)

'इट वाज कैसल ऑन देयर पार्ट'(पृ० 582)

'हि केयर नॉट टू लव हिम' (पृ० 612)

'आई विश यू गुड लक'(पृ० 688)

'मेक इट ए सीक्रेट ऑपरेशन... एण्ड नेम इट गॉधी ऑपरेशन' (पृ० 845)

'ह्वेन मि०गॉधी कम?' ही से समथिंग... ही डू नथिंग'(पृ० 881)

पूरे उपन्यास में उर्दू वाक्यों का खुलकर प्रयोग हुआ है जो उपन्यास की स्वाभाविकता को प्रदर्शित करता है-

'अब्दुल्ला हाजी अपनी नशस्तिगाह में तशरीफ फरमा रहे थे।' (पृ० 276)

'अमाँ गाँधी भाई का इतवार ज्यादा मुकम्मल होता है।'(पृ० 342)

'न हमारे पास इल्म हैं न एमाल।'(पृ० 264)

अवधी वाक्यों का भी उपन्यास में प्रयोग हुआ है।

'ऊ देखो संगम आ गया'(पृ० 385)

'हार गवा तो कहाँ जाई'(पृ० 564)

उपन्यास में संस्कृतनिष्ठ वाक्यों के प्रयोग से बचा गया है। लेकिन फिर भी एकाध-दो वाक्य देखने को मिल जाते हैं -

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' (पृ० 490)

'गुरुदेवो भव' (पृ० 216)

उपन्यास की भाषा को आमफहम बनाने के लिए उपन्यासकार ने बीच-बीच में मुहावरों का प्रयोग भी किया है-

'तलवार बिछी हो तो उसकी धार पर भी पाँव रखकर आगे बढ़ो'(पृ० 44)

'दोनों हम प्याला-हम निवाला थे' (पृ० 232)

'अव्वल तो नौ मन तेल ही मुहैया करना मुश्किल है, राधा को तो नाचने को सवाल ही नहीं उठता।' (पृ० 238)

'सिर पर कफन बाँधकर यहाँ तक कहा'(पृ० 268)

'उन्हीं का साज उन्हीं की मर्सिया बजा' (पृ० 309)

'मुँह उठाकर चले आये यह मुँह और मसूर की दाल' (पृ० 342)

'तिल का ताड़ बनाया जा रहा है' (पृ० 362)

'पोलक के आ जाने से एक और एक ग्यारह हो गये थे'(पृ० 603)

'बिना काम रोटी अमानत में खयानत'(पृ० 727)

'जान है तो जहान है'(पृ० 29)

'पढ़े फारसी बेचे तेल'(पृ० 95)

'तुख्म तासीर सोहबत का असर'(पृ० 610)

'एक नाग नाथ दूसरा साँप नाथ'(पृ० 719)

उपन्यासकार ने कई जगह अँग्रेजी के मुहावरों का हिन्दी में अनुवाद किया है -

'दी बुक इन चाइना शाँप' का जैसे 'चीनी के बर्तनों में बिजार घुस आया हो।'(पृ० 238)

'स्ट्रोन थ्रो डिसटेंस' का 'वेस्ट स्ट्रीट से कंकड़ फेंको तो गाँधी का दफ्तर था।' (पृ० 369)

गिरिराज किशोर ने उपन्यास की भाषा हिन्दुस्तानी रखने के मोह में कहीं -कहीं ऐसे शब्दों और वाक्यों का प्रयोग किया है जिससे वाक्य कठिन हो जाते हैं और पठनीयता बाधित होती है-

'श्रीमन मैं ऊपर से नीचे तक पूरी तरह **वस्त्रित** हूँ।' (पृ० 763)'वस्त्रित' शब्द Dressed का अनुवाद है।

'जब तक कोई **बाहेमियन** ही न हो'(पृ० 128)

'आये थे मरहम लगाने उल्टे जर्रा ही कर गये'(पृ० 114)

'लगता था सड़क की नाड़ी चल रही है'(पृ० 92)

'इसकी कमजोरियों के छेदों में उंगलियॉ डालकर इसे झीट-झीट कर सकोगे'(पृ० 106)

'जैसे -जैसे दिन की **निवाच** बढ़ती गई'(पृ० 107)

'सूर्य अपनी किरणों के सोने का चूरमा बनाकर समुद्र तल पर बिखेर देता है'(पृ० 27)

'वह अपनी बेइज्जती का **तप्सरा** करेगा'(पृ० 120)

'अब्दुलगनी काफी बातूनी वाके हुए थे'(पृ० 123)

'दूसरी तरफ प्यार के **अमीजल** की धारा उसे भिगो रही है'(पृ० 130)

'वह न सी डरती थी न साँध से'(पृ० 143)

'इसका मतलब गाँधी को **पिराजी** करार दे दिया गया'(पृ० 181)

'वहीं आपकी **चटसार** होती है'(पृ० 483)

'मोहनदास का पत्र बहुत **वसी** था'(पृ० 451)

उपन्यासकार ने उपन्यास के पात्रों की स्वाभाविकता तथा परिवेश को प्रदर्शित करने के लिए अँग्रेजी, उर्दू, अरबी, फारसी, आदि शब्दों का प्रयोग किया है। लेकिन कहीं-कहीं शब्दों का प्रयोग अप्रासंगिक लगने लगता है । जहां पर लोक भाषाओं के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वहां भाषा में ताजगी और प्रवाहमयता का अनुभव होता है।

देशज शब्द

ठिया, कुटम्मस, नंगी-बूची, घरऊपन, भभूके, हुस्स, झउवा, अड़ामी, हगेगें-मूतेगें, व्याई उड़का, मार मुलक्का, गुड़ूप, गहल, हॉका, ठकेल आदि।

संस्कृत शब्द

निष्णात, शुश्रूषा, सामिष, उर्मियों आदि।

अँग्रेजी के शब्द बहुतायत में प्रयुक्त हुए हैं-

कर्फ्यू, लैम्पपोस्ट, लोकेशन, ट्रेडिल, मी लार्ड, प्रैक्टिकल जोक, एडवोकेट, सोसायटी, हाट, कोल्ड,बाथ, बास्टर्ड, कमाण्ड, पैस्सिव रेसिस्टेन्स, आर्डिनेन्स, रजिस्ट्रेशन, हूकेयर्स, डीप क्लूफ, सन बाथ, मिरेकिल मैन, व्हाइट नॉबिलिटी, फोक, योर एक्सीलेंस, स्कॉच, मशीनमैन, कम्पोजीटर, एडीटर, यूनीवर्सल, होमवर्क, सर्कुलर, मारल प्रेशर, कॉलोनी, मर्चेण्ट्स, लिफ्टमैन, स्टेच्यू, सेक्रेटरी, कुलीनान, इण्डेंचर्ड लेबर, चीफ जस्टिस, प्रोग्राम, ब्लडीशिट, पेइंग गेस्ट, प्रापरटाउन, व्हाइट आदि।

अरबी शब्द

तबालत, इत्तफाक, तखलिये, हुक्मउदूली, मुल्तवी, मुअतबर, मुख्तसर, आमीन, तिजारत, रूहानी, गफलत, हकूक, हुब्बेवतनी, तदवीर, मोहर्रिर, लाजमी, तस्किया, रवायत, मंसूख, कलफ, वाजिद, जरूरियात, फारिग, इस्तकबाल, तकरीर, कत्ल, तामीर, तफसील, मरकज, महदूद, अहद, मुश्तहिक, तशरीफ, आमोखास, लहीम, शहीम, मशगूल, मुहाफिज, मुन्तसिर, तस्वीह, नाजिल, हिजरत, अखलाक, रसूख आदि।

फारसी शब्द

आशियाना, बदकारियाँ, क्रिस्तानी, गुस्ताख, सुरमई, जशिस्तगाह, दोजख, फराकदिली, बजात खुद, ताबूद, दरपेश, जर खरीद,दस्तवस्ता, खामख्याली, मौजे-तल्लातुम, अक्स, बदसलूकी, हज्जाम, पैबस्त, पेशतर, नामरजाद, सजायाफ्ता, नेस्तनाबूद, शाइस्तगी, औसान, शिकस्तदिली, मुजरिमान, बदमजगी, बात फरोश, अलामत, जुम्बिश, नदारद, सरसब्ज, दरकारे, खम, आबदस्त आदि।

उर्दू शब्द

तफरीक, दियानतदारी, बिलावजह, खनायत, महरूम, आलिम, काजिम, मसायल, बगलगीर, लब्बेलुवाब, कैफियत, खुशकिस्मत, जरिया-माश, बेताज जुस्तजू, वकफे, हाजरीन, हिकारत, जलालत, जुज, मुखालफत, अहबावों, एलची, नाइन्तकाफी, फलासफे, मशरूफ, तजबीज, कागुस्ताखी, जज्बा, अस्मत, पुरमजाक, गफलत, खतोकिताब, तमाशबीन, नाचीज, दुश्वार आदि।

उपन्यासकार ने प्रारम्भ से अन्त तक उपन्यास को पठनीय बनाये रखा। कहीं भाषा की लाक्षणिकता से, तो कहीं नाटकीय संवाद और मुहावरों और देशज शब्दों से। उपन्यासकार की भाषा पर मजबूत पकड़ बरकरार रही।

शैली

उपन्यासकार कथावस्तु को अधिक ग्राह्य बनाने के लिए शैली का सहारा लेता है। शैली किसी वस्तु को अधिक संवेद्य बनाती है। शैली के बिना कथावस्तु की अभिव्यक्ति यथार्थ रूप में नहीं हो पाती है। पाठक कथावस्तु के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर, उसे गहराई से अनुभूत भी करना चाहता है। कथावस्तु को समग्रता में ग्रहण कराने के लिए उपन्यासकार अक्सर दो शैलियों का प्रयोग करता है। पहली, वर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत कथावस्तु का विस्तृत परिचय दिया जाता है। दूसरी, चित्रात्मक शैली के द्वारा किसी वस्तु, स्थिति और घटना के आंतरिक पहलुओं तथा किसी पात्र के आंतरिक द्वन्द्वों और जटिलता को उदघाटित किया जाता है।

'पहला गिरमिटिया' में उपन्यासकार ने इन्हीं दो शैलियों का प्रयोग किया है। गिरमिटिया मजदूरों के संघर्ष और गोरों के जुल्म तथा हैवानियत का विवरण गिरिराज किशोर ने जहाजी यात्रा से ही देना शुरु किया है- "एक रात एक डॉक्टर ही एक महिला को घसीटता हुआ अपने केबिन में ले गया था। वह चिल्लाई तो लोग जग गये। लेकिन डाक्टर को सामने देखकर पीछे हट गये। डॉक्टर बोला, " इसे दौरा पड़ा है।" उसका आदमी गिड़गिड़ा रहा था। लेकिन उसकी बात का डॉक्टर पर कोई असर नहीं हो रहा था। बाकी लोग भी कुछ नहीं कह पाये थे। वे डर गये थे। उन्होंने सुना था कि जहाज के अफसरान नाराज हो जायें तो समुद्र में फिकवा देते हैं। जान है तो जहान है। शुरु में ही जहाजी लोग किस्से सुना-सुनाकर लोगों के दिलों में डर कूट-कूट कर भर

देते थे। . . . डॉक्टर के पास हर एक को जाना पड़ता था। डॉक्टर दवा कम पानी ज्यादा मिला देता था। अगर वह नाराज हो जाये तो पता नहीं दवा दे या क्या? कई बार मरीज ने दवा खाकर ही दम तोड़ा था। बाद में पता चला था कि डॉक्टर नाराज था। इसलिए उसे दवा की जगह, लहरों में राहत मिली। वह औरत जिसे डॉक्टर घसीटकर ले गया था, पहले चिल्लाई बाद में शान्त हो गयी। लोगों की समझ में नहीं आया, वह आवाज कहाँ चली गयी।''[16]

विवरणात्मक शैली में जिस तरह से घटनाओं का विस्तृत ब्यौरा रहता है, उसी प्रकार से चित्रात्मक शैली में केवल वस्तुओं, घटनाओं और चरित्रों की सूचना ही नहीं रहती, बल्कि उन तत्वों को गहराई, मार्मिकता तथा सजीवता के साथ पाठक के अन्दर उतारने की कोशिश की जाती है। गिरिराज किशोर ने गोरे मालिकों और गिरमिटिया मजदूरों के संबंधो को अधिक गहराई से अभिप्रेत करने के लिए चित्रात्मक शैली का उपयोग किया है-''कुछ मालिकों के विलाओं में गिरमिटियों के लिए घंटियाँ बँधी होती थीं। घंटी उनकी न्याय पसंदगी या दयालुता का प्रमाण होती थी कि वे लोग गिरमिटियों की बात भी सुनते हैं। वरना ज्यादातर मालिक तो गिरमिटियों के लिए नीलकण्ठ होते थे। त्योहार वगैरा में दर्शन हो गये तो हो गये। वे सब लोग काफी देर तक खड़े घंटी को देखते रहे। चारों तरफ मशाल जल रहे थे। उन चारो ठिठुरते शरीरों में थोड़ी-थोड़ी गर्मी आ गयी थी। ''

तमिल भाषी पहली बार बोला, मैं घंटी खींचे देता हूँ, अकेला हूँ, फिर से लौटकर सात समन्दर पार घर को कभी जा नहीं पाऊँगा। यहाँ भी मेरा कौन बैठा है?. . . वह आगे बढ़ा और उसने बाहर लटकती रस्सी दो-तीन बार खींची। उसके चेहरे पर कुछ करने की चमक थी। वह खुश था। बाकी लोग भय के मारे चुपचाप खड़े थे। ''[17] ' वे सब काफी देर तक खड़े घंटी को देखते रहे' और 'बाकी लोग भय के मारे चुपचाप खड़े थे' जैसे सूत्र वाक्यों के द्वारा मालिक के खूँखार व्यक्तित्व और गिरमिटियों के आंतरिक डर का बिम्ब चित्रित करने की कोशिश की गयी है।

उपन्यास में प्रूफ की इतनी अशुद्धियाँ हैं कि पाठक के मस्तिष्क में झुँझलाहट पैदा करती हैं। इससे पठनीयता बाधित होती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

जनता की जगह 'जानता' (पृ० 80), सर्पाकार की जगह 'सरपाकार' (पृ० 66), भीड़ की जगह 'छीड़'(पृ० 100), नदारद की जगह 'नरारद' (पृ० 125), अब्दुल्ला की जगह

'अदुल्ला' (पृ० 206), अखबार की जगह 'अखबर' (पृ० 144), सरकार की जगह 'सकरार' (पृ० 306), में की जगह 'की' (पृ० 408), ने की जगह 'से' (पृ० 416), स्मृतियॉ की जगह 'स्मृमियां' (पृ० 503), बीसवीं की जगह 'उन्नीसवीं' (पृ० 594), ख्वाब की जगह 'ख्याब' (पृ० 661), क्या की जगह 'क्यों' (पृ० 691), प्रफुल्लता की जगह 'प्रफुल्ला' (पृ० 781), आदमियों की जगह 'आदियों' (पृ० 834), कुछ की जगह 'कुल' (पृ० 843), मजदूर की जगह 'मजबूर' (पृ० 861) लिखा गया है। ये अशुद्ध शब्द तो कुछ उदाहरण मात्र हैं। ऐसी तमाम अशुद्धियॉ उपन्यास में मौजूद हैं ।

सूक्तियाँ

उपन्यास में रोचकता, पठनीयता और प्रवाह-प्रवणता बनाये रखने के लिए उपन्यासकार ने लोकोक्तियों, मुहावरों और सूक्तियों का जमकर प्रयोग किया है। कुछ सूक्तियॉ द्रष्टव्य हैं -

'कई बार अपमान और उपेक्षा भी ताकत बन जाती है।' (पृ०112)

'पैसे से सामान भले ही मिल जाये, आत्मीयता नहीं मिलती है।' (पृ०130)

'त्याग के बीज बहुत जल्दी फल देते हैं। (पृ०153)

'युद्ध और प्रेम में कुछ भी अनुचित नहीं है।' (पृ०162)

'मजबूरी कभी-कभी पैरों में जंजीर और पीठ पर चाबुक का काम करती है।'(पृ०177)

'नजर चूकी और चोर की बन आई।' (पृ०215)

'साहस और धैर्य अत्याचार की तलवार तोड़ देता है।'(पृ०215)

'आदमी गिरने पर ही उठता है।' (पृ०221)

'अगर हमें अधिकार पाना है तो त्याग और कष्ट उसकी पहली शर्त है।' (पृ०224)

'असंतोष हमेशा जड़ता और ठहराव के विरूद्ध खड़े होने की शक्ति का प्रतीक होता है।' (पृ०251)

'जो स्वयं निष्पाप हो वही दूसरों पर पत्थर फेंके।' (पृ०305)

'इरादा भी एकमात्र ऐसा रास्ता है जो मंजिल तक पहुँचाता है।' (पृ०433)

'पैसा नहीं आत्मनिर्भरता सुख देती है।' (पृ०605)

'झूठ और चोर के पैर नहीं होते।' (पृ०615)

'माँ का प्यार रोशनी भी है, राह भी और मंजिल भी।' (पृ०647)

'बर्बरता वहीं पनपती है जहां अन्धशक्ति और अमानवीय हृदय हो।' (पृ०670)

'त्याग से बड़ा सुख दूसरा नहीं।'(पृ०670)

'संशय ही विनाश का सबसे बड़ा कारण होता है।' (पृ०689)

'मृत्यु परिवर्तन का उत्सव है , उत्सव से कोई डरता है।' (पृ०708)

'त्याग को पैसे से न तौलें।' (पृ०670)

'तन और मन एक तार से न पिरें हों तो मन शैतान घोड़े की तरह तन को भी लेकर खड्ड में छलांग लगा देता है।' (पृ०740)

'जहाँ सवाल जन्म लेने बन्द कर देते हैं वहाँ न सत्य रहता है, न आजादी और न सपने।' (पृ०747)

'वैसे संसार में सबसे उत्तम और सात्विक प्यार माँ का है।' (पृ०759)

'अगर किसी के अन्दर एक बार जानवर जग जाये तो जानवर आगे-आगे और आदमी पीछे-पीछे होता है।' (पृ०828)

'संसार कर्म-प्रधान है भाव प्रधान नहीं।'(पृ०886)

'मृत्यु एक स्वागत योग्य नियति है।'(पृ०893)

'दुख भी स्वार्थ का ही एक अंग है।'(पृ०893)

'प्रेम गूंगा है, कभी शिकवा नहीं करता। प्रेम अन्धा है, कभी गुण-दोष नहीं देखता। किस्से कहानी नहीं बनाता। प्रेम देता है, प्रेम लेता है। मुसीबत हो या खुशहाली प्रेम न घटता है न बढ़ता है। प्रेम न कभी थकता है, न आहत होता है।' (पृ०897)

उपन्यास में कई प्रसंगों को अनावश्यक लम्बा खींच दिया गया है। जिससे पाठक ऊब महसूस करने लगता है और पठनीयता बाधित होती है । लम्बे-लम्बे भाषणों का विवरण कथाक्रम में नीरसता पैदा करता है। इससे अन्य प्रसंगो की व्याख्या के लिए अवसर कम मिल सका। यह औपन्यासिक शिल्प की कमजोरी है।

संदर्भ ग्रन्थ

1 सं० नगेन्द्र, मानविकी पारिभाषिक कोश(साहित्य खण्ड), पृ० -247

2 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०-16

3 पहल, अंक 63, ओ गिरमिटिया लौट गये तुम-कनक तिवारी, पृ०-216

4 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०31

5 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०8

6 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०843

7 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०579

8 एम० के० गाँधी, सत्य के प्रयोग, पृ०23-24

9 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०144

10 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०813

11 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०855

12 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०855

13 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०388

14 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०496

15 प्रेमचन्द, कुछ विचार, पृ० 62

16 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०29

17 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, पृ०45

उपसंहार

मानव जीवन की समस्याओं को जिस विराट फलक पर उठाने की सामर्थ्य उपन्यास विधा में है, उतना साहित्य की अन्य विधाओं में नहीं है। उपन्यास में जीवन को विस्तार में ले जाकर स्वर प्रदान करने की क्षमता होती है, यही कारण है कि शुरु से ही हिन्दी उपन्यास जीवन-जगत की समस्याओं से संपृक्त रहा है। यह जरूर है कि इस संपृक्ति के रूप और स्तर में विभेद रहा है। आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य जिस गहराई के साथ मानव विसंगतियों को उकेर रहा है वह गहराई हमें प्रारम्भिक उपन्यास साहित्य में नहीं मिलती। प्रेमचन्द पहले कथाकार हैं जिन्होंने कथा साहित्य को जन-जीवन और उसकी समस्याओं से जोड़ा। केवल इतना ही नहीं प्रेमचन्द के साहित्य में पहली बार आम आदमी अपनी पूरी गरिमा के साथ प्रतिष्ठित हुआ। हर्ष का विषय है कि प्रेमचन्द के बताये हुए पथ पर हिन्दी उपन्यास साहित्य तेजी से अग्रसर हुआ और युगीन समस्याओं को व्यापक संदर्भो में प्रस्तुत करने और उनका आकलन करने में सफल रहा।

साहित्य की किसी भी विधा की रचना हो, अपने गर्भ में किसी न किसी समस्या को अवश्य छिपाये रहती है। रचनाकार वर्तमान की समस्या को स्वर प्रदान करने के लिए कभी तो अपने समय और काल का उपयोग करता है और कभी अतीत की घटनाओं में जाकर उपयुक्त घटना की तलाश कर उसके माध्यम से युगीन समस्या को उभारने की कोशिश करता है। गिरिराज किशोर का नाम वर्तमान उपन्यासकारों में एक महत्वपूर्ण नाम है। 'पहला गिरमिटिया' से पहले ही वे एक उपन्यासकार के रूप में चर्चित -प्रतिष्ठित हो चुके थे। 'पहला गिरमिटिया' के प्रकाशन के साथ उनकी चर्चा और प्रतिष्ठा में निश्चय ही इजाफा हुआ है।

'पहला गिरमिटिया' एक वृहदाकार उपन्यास है। इस उपन्यास की कथा संरचना दो तत्वों के संयोग से हुई है। पहला तत्व है - प्रवासी मजदूरों की समस्यायें और दूसरा तत्व है-मोहनदास की महात्मा के रूप में निर्मिति की पृष्ठभूमि। वैसे एक स्तर पर देखा जाय तो ये दोनों तत्व आपस में संगुंफित हैं लेकिन इनके बीच में स्पष्ट विभाजक रेखा भी है। उपन्यासकार ने इस तथ्य को बड़ी बारीकी के साथ पकड़ा है और इन्हीं दोनों तत्वों के पारस्परिक संयोग से उपन्यास का ताना-बाना बुना है।

जैसा कि पहले कहा गया है कि इस उपन्यास का कथानक दो स्तरों पर निर्मित हुआ है। पहले स्तर पर उपन्यासकार ने उन प्रवासी मजदूरों की सामाजिक, राजनीतिक,

सांस्कृतिक समस्याओं को व्यक्त किया है, जिन्होंने अपनी मेहनत से ब्रिटिश उपनिवेशों को हरा-भरा बनाया। उपन्यास में एक तरफ दक्षिण अफ्रीका के उन गिरमिटिया मजदूरों की कथा है जो सुनहरे भविष्य की तलाश में गिरमिट पर दक्षिण अफ्रीका गये लेकिन वहाँ पहुँचकर उनका मोह भंग हुआ और उन्हें अनवरत रूप में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ा। वे रात-दिन मेहनत करते थे फिर भी उन्हें भरपेट भोजन के लाले पड़े रहते, केवल इतना ही नहीं गोरे मालिक उनके साथ अमानवीय व्यवहार करते, उनकी बहन-बेटियों से बदफेली करते और नियति के शिकंजे में फंसे हुए प्रवासी मजदूर इसका प्रतिरोध भी न कर पाते। काफी लम्बे समय तक ऐसी समस्याओं से जूझने के बाद उन्हें संघर्ष के लिए बाध्य होना पड़ा और इस संघर्ष को नेतृत्व प्रदान किया मोहनदास ने।

दक्षिण अफ्रीका में गिरमिटिया मजदूरों की समस्याओं को मोहनदास ने केवल देखा था, बल्कि काफी कुछ अंशो में भोगा भी था। यही एक ऐसा कारण है जिसने उन्हें गिरमिटिया मजदूरों की समस्याओं के खिलाफ संघर्ष के लिए प्रेरित किया।

अपने अधिकारों के लिए गोरों से लड़ने की प्रेरणा उन्हें यहीं से मिली। दक्षिण अफ्रीका का प्रवास मोहनदास के जीवन का वह महत्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु है जो उन्हें महात्मा गाँधी की चरम ऊँचाई तक ले गया। मोहनदास से महात्मा गाँधी बनने की प्रक्रिया एक-दो दिनों की प्रक्रिया नहीं है, एक लम्बे समय और संघर्ष की प्रक्रिया है। जाहिर है कि इस प्रक्रिया में गाँधी के दक्षिण अफ्रीका प्रवास का काल सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । यह उपन्यास के कथानक का दूसरा स्तर है।

अव तक इस उपन्यास पर जितना कुछ लिखा और पढ़ा गया है उसमें कथानक का यही दूसरा स्तर ही महत्वपूर्ण बनकर उभरा है। इस लघु शोध-प्रबंध में पहली बार उपन्यास के कथानक को पहले स्तर पर विवेचित-विश्लेषित किया गया है। यहाँ प्रवासी गिरमिटिया मजदूरों की समस्याओं पर चर्चा करने के साथ-साथ यह भी जरूरी समझा गया कि इस संदर्भ में प्रवास की अवधारणा को स्पष्ट किया जाय। इस तरह से यहाँ 'पहला गिरमिटिया' उपन्यास को एक नये दृष्टिकोण से देखने की कोशिश की गयी है।

'प्रवास' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। लेकिन मैंने प्रवास शब्द को विशेष संदर्भ में ही ग्रहण किया है। जो भारतीय विदेशों में रोजी-रोटी कमाने गये थे उन्हीं को प्रवासी भारतीयों के रूप में यहाँ परिगणित किया गया है।

प्रवासी भारतीयों की भी दो श्रेणी है। एक तो वे प्रवासी भारतीय हैं, जिन्होंने गरीबी के कारण जीविकोपार्जन के लिए प्रवास-गमन किया तथा दूसरे वे लोग हैं जिन्होंने केवल अपना जीवन स्तर सुधारने के लिए प्रवास-गमन किया। भारतीय कथाकारों ने इन्हीं दूसरी श्रेणी के प्रवासियों तक ही अपनी दृष्टि को सीमित रखा। वे उन प्रवासी मजदूरों को अपनी रचना के केन्द्र में नहीं रखते, जो ब्रिटिश उपनिवेशों में गिरमिटिया के रूप में मजदूरी करने गये थे और अपनी मेहनत से उपनिवेशों को हरा-भरा बनाया था। इनकी समस्याओं को भारतीय कथाकरों की बजाय प्रवासी कथाकारों ने अपनी रचनाओं में अधिक संवेदनात्मक रूप से अभिव्यक्त किया है।

प्रवास पर लिखने वाले भारतीय कथाकारों ने जहाँ अपनी दृष्टि केवल एक वर्ग विशेष पर ही केन्द्रित रखी, वहीं गिरिराज किशोर ने उन प्रवासी भारतीयों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की, जिन्हें गिरमिटिया मजदूर कहते हैं। गिरिराज किशोर ने गिरमिटिया मजदूरों के जीवन-संघर्षों, रहन-सहन और वेश-भूषा को विस्तृत रूप से चित्रित कर उपन्यास को सुपाठ्य और संवेद्य बनाया है।

गिरमिटिया मजदूरों को प्रवास में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा था। गोरों की रंगभेद, नस्लभेद , स्वार्थपरकता और धर्मान्धता जैसी दुष्प्रवृत्तियों के कारण ही गिरमिटिया मजदूरों को सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं से गुजरना पड़ा था। भारतीयों के साथ द्वितीय नागरिक जैसा व्यवहार किया जाता था, उन्हें नाख्वान्दा और नामाकूल घोषित किया जाता था। प्रत्येक महिला गिरमिटिया मजदूर को तीन-चार गिरमिटिया पुरुष मजदूरों की पत्नी बनकर रहना पड़ता था। गिरमिटिया महिलाओं को 'कुली मेयरीज' के नाम से पुकारा जाता था। भारतीयों को जो किंचित अधिकार प्राप्त थे उसे भी दक्षिण अफ्रीका की उपनिवेशी सरकार नये-नये कानून बनाकर समाप्त करने की कोशिश करती थी। मताधिकार, तीन पौण्डिया पोल टैक्स, एशियाटिक एमिग्रेशन रजिस्ट्रेशन बिल और भारतीय विवाह से संबंधित कानून भरतीयों को उपनिवेश से भगाने की कूटनीतिक चाल थी। तीन पौण्डिया पोल टैक्स ने गिरमिटिया मजदूरों को सबसे ज्यादा प्रभावित किया। उनकी कमायी का एक हिस्सा पोल टैक्स चुकाने में ही खर्च हो जाता था जिससे उसके परिवार का भरण-पोषण ठीक से नहीं हो पाता था। एशियाटिक एमिग्रेशन रजिस्ट्रेशन बिल का उल्लंघन करने पर जेल व जलावतनी की सजा दी जाती थी।

भारतीय विवाह से संबंधित कानून भरतीयों की सबसे बड़ी सांस्कृतिक समस्या थी। भारतीय रीति-रिवाज की पद्धति से हुई शादियों को उपनिवेशी सरकार अवैध घोषित कर देती थी। इस कानून के द्वारा भारतीय महिलाओं को रखैल और बच्चों को अवैध माना जाता था। इन्हीं समस्याओं के कारण गिररिमटिया मजदूर मोहनदास के नेतृत्व में उपनिवेशी सरकार के काले-कानूनों के खिलाफ संघर्ष करने को बाध्य हुए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि उपन्यासकार की कुछ अपनी सीमायें होती हैं। ये सीमायें उपन्यासकार को बार-बार नियंत्रित करती हैं। गिरिराज किशोर ने एक ऐसी निकट अतीत की घटना को उपन्यास का विषय बनाया है जिससे आम आदमी भी अपरिचित नहीं है। उन घटनाओं की बहुज्ञता ही उपन्यासकार की सीमा निर्धारित करती है। यदि रचनाकार घटनाओं को तोड़ने-मरोड़ने की कोशिश करता है। तो रचना की प्रामाणिकता की चुनौती सामने आ खड़ी होती है। इस चुनौती से गिरिराज किशोर को भी टकराना पड़ा है।

अनेक त्रुटियों के बावजूद यदि उपन्यास महत्वपूर्ण बन सका है तो इसे गिरिराज किशोर की औपन्यासिक कला की सफलता ही कही जा सकती है।

संदर्भ सूची

आधार ग्रन्थ

1 गिरिराज किशोर, पहला गिरमिटिया, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1999

सहायक ग्रन्थ

1 अजित कुमार (सं०), बच्चन रचनावली, भाग 7, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली, 1983

2 अभिमन्यु अनत, लाल पसीना, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली, 1977

3 अभिमन्यु अनत, गाँधी जी बोले थे, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली, 1984

4 अभिमन्यु अनत, और पसीना बहता रहा, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली, 1993

5 अरविन्द मोहन, प्रवासी मजदूरों की पीड़ा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ,1998

6 ई० एच०कार, इतिहास क्या है?, मैकमिलन कं० ऑफ इण्डिया लि०, नई दिल्ली, 1976

7 उषा प्रियंवदा, रुकोगी नहीं राधिका, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली, 1967

8 गोविन्द मिश्र, कथा-भूमि (इंग्लैण्ड में भारतीयों की स्थिति), राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली

9 के०हजारी सिंह, मारिशस में भारतीयों का इतिहास, मैकमिलन कं० ऑफ इण्डिया लि०, नई दिल्ली, 1976

10 कैलाश कुमारी सहाय, प्रवासी भारतीयों की हिन्दी सेवा, अविराम प्रकाशन , दिल्ली 1994

11 दिनकर जोशी, उजाले की परछाईं, परिदृश्य प्रकाशन, मुम्बई, 1998

12 नरेन्द्र शर्मा, प्रवासी के गीत, भारती भंडार, इलाहाबाद, 1952

13 निर्मल वर्मा, चीड़ों पर चाँदनी, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली, 1988

14 निर्मल वर्मा, वे दिन, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली, 1964

15 नित्यानन्द तिवारी, साहित्य का स्वरूप, एन०सी०ई०आर०टी०, नई दिल्ली, 1985

16 प्रेमचन्द, कुछ विचार, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1972

17 भवानी दयाल संन्यासी, प्रवासी की आत्मकथा, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली,1947

18 डॉ० मधु संधू, कहानीकार निर्मल वर्मा, दिनमान प्रकाशन, 3014, चरखेवालान, दिल्ली

19 मनु, मनु स्मृति, चौखम्भा प्रकाशन, संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1982

20 महात्मा गाँधी, दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का इतिहास, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1968

21 महात्मा गाँधी, सत्य के प्रयोग, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1957

22 महात्मा गाँधी, हिन्द-स्वराज, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1989

23 मीनाक्षी पुरी, देश निकाले, अक्षर प्रकाशन प्रा०लि० 2136, अंसारी रोड, नई दिल्ली,1979

24 मीनाक्षी पुरी, सात फेरे अधूरे, अक्षर प्रकाशन प्रा०लि० 2136, अंसारी रोड, नई दिल्ली,1982

25 महेन्द्र भल्ला, दूसरी तरफ, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली, 1976

26 महेन्द्र भल्ला, उड़ने से पेशतर, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली, 1987

27 योगेश कुमार, सूखा स्वर्ग, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली, 1983

28 बिपिन चन्द्र, आधुनिक भारत, एन०सी०ई०आर०टी०, नई दिल्ली, 1990

29 विवेकानन्द शर्मा, अनजान क्षितिज की ओर, गरिमा प्रकाशन 101 आई० जे० एस० पैलेस, एक्स/320, दिल्ली गेट बाजार, नई दिल्ली, 1998

30 श्यामधर तिवारी, अभिमन्यु अनत: व्यक्तित्व और कृतित्व, अभिनव प्रकाशन, आगरा, 1983

साहित्य-कोश

1 Concise oxford dictionary

2 मानविकी पारिभाषिक कोश(साहित्य खण्ड), (सं०) नगेन्द्र, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 नेताजी मार्ग, नई दिल्ली, 1965

3 वृहद् हिन्दी कोश, (सं०) कालिका प्रसाद, ज्ञानमंडल, वाराणसी, 1976

4 हिन्दी विश्वकोश, (सं०) नगेन्द्र नाथ बसु

5 हिन्दी साहित्य-कोश भाग-1, (सं०)धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल, वाराणसी, 1985

पत्र-पत्रिकाएँ

1 सं० बनारसी दास चतुर्वेदी, जीवन साहित्य(मासिक), प्रवासी अंक-2, अप्रैल-मई, 1974

2 धर्मवीर भारती, धर्मयुग, मुम्बई, 4 अगस्त, 1974

3 साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 25 अक्टूबर, 1988

4 आज कल, अक्टूबर, 1999

5 इन्द्रप्रस्थ भारती, अक्टूबर-दिसम्बर, 1999

6 पहल (ओ गिरमिटिया लौट गये तुम-कनक तिवारी), अंक-63, जनवरी 2000

7 भाषा, जनवरी-फरवरी, 2000

8 सं० राजेन्द्र यादव, हंस, अक्षर प्रकाशन प्रा०लि० 2136, अंसारी रोड, नई दिल्ली, नवम्बर, 1999